ओ३म्

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिता

संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विता ।

प्रकाशक :

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

१०वाँ संस्करण, जून २०१०

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

(वेदादिविविधसच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यैः

श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-स्वामिविरचितः

प्रकाशक/विक्रय-केन्द्र

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

मुख्यालय :

४२७, नयाबांस, दिल्ली-६

चलभाष कार्यालय : ९६५०५२२७७८, ९६५०६२२७७८

मूल्य : १०० रु०

दयानन्दाब्द	:	१८७
विक्रमाब्द	:	२०६७
सृष्टि-संवत्	:	१,९६,०८,५३,१११
पूर्व प्रकाशित	:	३५,८००
प्रस्तुत १०वाँ संस्करण	:	२,०००
कुल योग	:	९,१८,६५०

शब्दयोजना :

वैदिक प्रेस, फोनः २२०८१६४६

मुद्रक :

व्रजवासी आर्ट प्रैस लि०

ए-८१, सैक्टर-५,

नोएडा-२०१३०१ (उ०प्र०)

उपक्रमणिका

महर्षि दयानन्दसरस्वती द्वारा लिखित **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** वेदार्थ-बोध के लिए एक अनुपम ग्रन्थ है । महर्षि ने अपने वेद-भाष्य को ठीक-ठीक समझने और समझाने के लिए ही इस की रचना की । वेदार्थ के पाठक इस के विना महर्षि के वेद-भाष्य को समझ नहीं सकते । स्वयं महर्षि भूमिका का प्रयोजन बताते हुए वेद-भाष्य के विज्ञापन में लिखते हैं–

(१) 'जब भूमिका छप के सज्जनों के दृष्टिगोचर होगी, तब वेद-शास्त्र का महत्त्व जो बड़प्पन तथा सत्यपना भी सब मनुष्यों को यथावत् विदित हो जायेगा ।'

(पत्र और विज्ञापन, पृ० ३९ पर)

(२) 'जो कोई भूमिका के विना केवल वेद ही लिया चाहे, सो नहीं मिल सकते ।'

(पत्र और विज्ञापन, पृ० १३८ पर)

(३) 'और यह भी जानना चाहिए कि चारों वेद की भूमिका एक ही है ।' (पत्रविज्ञापन, पृ० ८७)

(४) 'भूमिका चारों वेदों की एक ही है ।' (पत्रविज्ञापन, पृ० ८६)

उपर्युक्त उद्धरणों से जहां भूमिका का प्रयोजन स्पष्ट होता है, वहां इस भ्रम का भी स्वामी जी के लेख से ही निराकरण हो जाता है कि यह भूमिका वेदादि सब शास्त्रों की है। किन्तु चारों वेदों के भाष्य की है । जैसे मकान बनाने से पूर्व नक्शे की आवश्यकता होती है, वैसे ही प्रत्येक वेद-भाष्यकार प्रथम वेद-भाष्य की भूमिका में अपनी मान्यताओं का स्पष्टीकरण करता है । अतः भूमिका के विना महर्षि के वेदभाष्य को समझना अत्यन्त दुरूह कार्य है । महर्षि ने इसलिए भूमिका के विना वेदभाष्य देने से मना किया था । परन्तु यह हमारा दुर्भाग्य ही रहा कि जो आर्य बन्धु तथा सभाएं महर्षि के आदेशों की अवहेलना करके विना भूमिका के वेदभाष्य छापती रही हैं । सायणादि भाष्यों के साथ उन की भूमिकाएं छपी मिलती हैं । हमें इस बात से बहुत ही हार्दिक हर्ष हो रहा है कि 'आर्ष-साहित्य-प्रचार ट्रस्ट' ने महर्षि के आदेश का पालन करते हुए उन के वेद-भाष्य को यथार्थ में हृदयङ्गम कराने के लिए वेद-भाष्य के साथ भूमिका को छपवाने का प्रबन्ध किया है । क्योंकि लेखक की मूलभूत वैदिक मान्यताओं को समझने के लिए उस की भूमिका का अध्ययन करना परमावश्यक होता है ।

इस विस्तृत भूमिका के बनाने का महर्षि का यह भी प्रयोजन था कि वेद-विषयक जो भी पौराणिक मिथ्या मान्यताएं फैली हुई हैं, जिन के कारण पाश्चात्य विद्वानों को ही नहीं, अपितु कतिपय भारतीय विद्वानों को भी वेदों के विषय में मिथ्या-भ्रम हो गया है । जिस से वेदों का गौरव ही कम नहीं हुआ, किन्तु 'वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक हैं, अथवा ईश्वरप्रोक्त हैं, इस में भी लोगों को भ्रान्ति हो गई। महर्षि दयानन्द की इस भूमिका से जहां मिथ्या-मतों की पोल खुली है, वहां सत्यार्थ का प्रकाश होने से सत्यासत्य का निर्णय भी पाठक कर सकते हैं ।

यद्यपि सायणादि वेद-भाष्यकारों ने भी अपनी-अपनी भूमिकाएं बनाई हैं, परन्तु उन में प्रथम तो आवश्यक मान्यताओं का वर्णन ही नहीं मिलता है और जिन का मिलता है उन में अनेक गलत हैं और जो ठीक हैं उन का उन्होंने स्वयं वेद-भाष्य में पालन नहीं किया है । जैसे वर्तमान में आचार्य

सायण का वेद-भाष्य अधिकतर पठन-पाठन में दृष्टिगोचर होता है, उन्होंने मन्त्रों के प्रतिपाद्य-विषय मुख्य देवता के विषय में ही मौन-धारण कर लिया है । देवतार्थ को विना समझे कैसे मन्त्रार्थ की सङ्गति हो सकती है ? अतएव वेदार्थ का पाठक सायण-भाष्य से सन्देह में ही पड़ा रहता है कि सायण क्या कहना चाहते हैं । ऐसे ही वेदों को ईश्वर-प्रोक्त (अपौरुषेय) मानकर भी वेदों में अनित्य इतिहास मानना, इन्द्रादि देवों को ईश्वरतुल्य समझना, स्वर्ग-नरक लोकविशेषों की कल्पना तथा ईश्वर के साकारवाद को मानकर जड़-पूजा का मानना आदि अनेक सायण की मिथ्या मान्यताएं उनके भाष्य में मिलती हैं ।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में उस प्राचीन ऋषियों की मन्त्रार्थ शैली को अपनाया है, जिस से मिथ्यामतों का खण्डन स्वतः ही हो जाता है । महर्षि अपने वेद-भाष्य की शैली का स्पष्टीकरण करते हुए भूमिका के अन्त में लिखते हैं—

मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च ।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः ॥

अर्थात् इस मन्त्र-भाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि मन्त्रार्थभूमिका=प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है । फिर मूलमन्त्र । उस का पदच्छेद । क्रम से प्रमाण-सहित मन्त्र के पदों का अर्थ । अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है । इस क्रम से मन्त्र-भाष्य बनाया जाता है ।

वेद-भाष्य की इस शैली से कोई भी विद्वान् वेदों में इतिहासादि मिथ्यामतों की सिद्धि नहीं कर सकता । यह महर्षि की स्पष्ट घोषणा तथा प्राचीन ऋषियों की परम्परा है । भाष्य का लक्षण भी यही है—**नामूलं लिख्यते किञ्चित् । नानपेक्षितमुच्यते ।'** अर्थात् जो मूल में नहीं है और जिस की आवश्यकता भी नहीं है, उस बात को भाष्य में नहीं रखना चाहिए । महर्षि ने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है परन्तु सायणादि ने इस प्राचीन शैली को न अपना कर, स्थान-स्थान पर कल्पनाओं का आश्रय करके मिथ्या-पौराणिक मान्यताओं को जन्म दिया है । यदि वे मन्त्र के देवतार्थ पर विचार करके प्रकरणानुसार मन्त्रों के पदों का ही अर्थ करके भाष्य करते तो वे कदापि मिथ्यामतों को अपने भाष्य में नहीं दिखला सकते थे । उन के वेद-भाष्य के अनर्थ का मूल कारण जहां प्राचीन शैली को छोड़ना है, वहां यह भी कारण हुआ कि वे वेद-भाष्य के अधिकारी भी नहीं थे । निरुक्त के अनुसार वेद-भाष्य करने का अधिकार किस को है ? यह स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा ।' (निरुक्त० १३।१२)

अर्थात् जो मन्त्रार्थ के साक्षात्कर्त्ता ऋषि नहीं हैं, अथवा जो अतपस्वी अर्थात् मलीन अन्तःकरण वाले हैं, उन्हें वेदार्थ करने का अधिकार नहीं है । महर्षि दयानन्द भी लिखते हैं—

"**(प्रश्न)** वेद संस्कृत में प्रकाशित हुए और अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृत भाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना ?

(उत्तर) परमेश्वर ने जनाया । और धर्मात्मा महर्षि योगी लोग जब-जब जिस-जिस के अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाए ।" (सत्यार्थप्रकाश स० समु०)

ऋषि के इन वचनों से स्पष्ट है कि ईश्वर की समाधि में जो ध्यानावस्थित नहीं हुए हैं, उन

का अन्तःकरण मलीन होने से वे मन्त्रार्थ को कदापि साक्षात् नहीं कर सकते । मनुष्यकृत और ऋषिकृत वेद-भाष्यों में यही महान् मौलिक अन्तर है । मनुष्य अपनी अपूर्ण विद्या के कारण शब्दार्थ की प्रकरणानुसार सङ्गति नहीं लगा सकते । केवल पाण्डित्य के कारण शब्दार्थ ही कर सकते हैं और वह भी असङ्गत । क्योंकि शब्दों के अनेकार्थक होने के कारण प्रकरणविरुद्ध अर्थ कैसे सङ्गत हो सकता है ?

सायणादि पौराणिक भाष्यकारों के भाष्य इसलिए भी अनर्थ करने वाले हुए कि उन्होंने प्राचीन ऋषि-भाष्य निरुक्तादि के सिद्धान्तों को भी छोड़ दिया है । निरुक्त सम्मत वैदिक-पद आख्यातज होते हैं, परन्तु सायण-भाष्य में रूढ अर्थ भी किये हैं । वैदिक कोष निघण्टु, ब्राह्मण आदि का आश्रय न करके लौकिक अर्वाचीन अमरकोषादि का भी सायणादि ने स्पष्ट आश्रय लिया है ।

सायणादि की ऋषि-सम्बन्धी मान्यता भी भ्रान्तिपूर्ण है । **मन्त्रों के आरम्भ में उल्लिखित ऋषियों को ऐतिहासिक न मानकर मन्त्रार्थ में सहायक मानना,** अथवा वेदों को अपौरुषेय मानकर भी मन्त्रान्तर्गत पठित वसिष्ठादि को व्यक्ति विशेष मानकर मन्त्रार्थ करना इत्यादि परस्पर विरुद्ध मान्यताएं सायणादि भाष्यों में स्पष्ट उल्लिखित मिलती हैं । महर्षि दयानन्द ने इन वेद-भाष्यकारों की मौलिक त्रुटियों को बहुत ही गम्भीरता से समझा और वैदिक स्वस्थ मान्यताओं को पुनः प्रसारण हेतु वेदार्थ का प्रकाश किया । महर्षि लिखते हैं कि-"यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्य के अनुकूल बनाया जाता है परन्तु जो रावण, उव्वट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, ये सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं । मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता । क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी । और जो मेरा भाष्य बनता है, वह तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अनुसार है । क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है । यही इस में अपूर्वता है ।"

(ऋ० भा० भू० भाष्यकरणशङ्का०)

महर्षि के इस लेख से जहां महर्षि के भाष्य की अपूर्वता का बोध हो रहा है, वहां उन विद्वानों की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है, जो यह मिथ्या मान्यता बनाये हुए हैं कि सायण-भाष्य भी ठीक है और महर्षि दयानन्द का भाष्य भी ठीक है । यदि सायण-भाष्य में कर्मकाण्डपरक अर्थ भी सङ्गत होता तो महर्षि ऐसा कदापि नहीं लिखते । महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद-भाष्य में तो प्रारम्भ के २१ सूक्तों के अन्त में निरन्तर सायणादि भाष्यों को मिथ्या-भाष्य बताया है । इस विषय में 'दयानन्द-सन्देश' का 'वेदार्थसमीक्षाङ्क' द्रष्टव्य है । जिस में मैंने सायण-भाष्य के प्रमुख दोषों का दिग्दर्शन सप्रमाण दिखाया है । और ऋग्वेद के प्रथम २१ सूक्तों में सायण-भाष्य का प्रकरण-विरोध, शास्त्रविरोध तथा अर्थों की असङ्गति का स्पष्ट उल्लेख किया है ।

कुछ आर्य विद्वानों की ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका से सम्बद्ध भ्रान्तियाँ

(१) ऋ० भूमिका में भाषार्थ किस का ? इस विषय में श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसकादि विद्वानों की विचारधारा यह है कि भूमिका की संस्कृत महर्षि की है और भाषार्थ पण्डितों का है । मीमांसक जी अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'हमारी मान्यता तो यह है कि ऋषि के मूल संस्कृत पाठ के अनुसार नवीन यथार्थ भाषानुवाद होना चाहिए । यदि कभी अवकाश मिला तो इस प्रकार का प्रयास किया जायेगा ।' (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋ० भा० भू० में सम्पादकीय, पृष्ठ ६)

श्री मीमांसक जी की मान्यता भूमिका के आन्तरिक साक्षी से सर्वथा विपरीत होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती । इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'ओ३म् सह नाववतु०' तैत्तिरीयारण्यक के वचन का संस्कृत में भाष्य न होने पर भी भाषा में अर्थ दिया है । ऐसे ही भूमिका में वेद, दर्शन, ब्राह्मण तथा उपनिषदादि के ८५ प्रमाणों का केवल भाषार्थ ही मिलता है । यदि कोई थोड़े में ही देखना चाहे तो भूमिका के वेदोत्पत्ति, मुक्तिविषय तथा उपासना प्रकरण को ध्यान से पढ़कर अनुमान कर सकते हैं कि भूमिका का भाषार्थ मूल संस्कृत के अनुसार कदापि नहीं है । महर्षि ने उपासना विषय में तो स्पष्ट लिखा है—

'एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ।' अर्थात् इन की व्याख्या भाषा में की जायेगी । महर्षि के इस वचन को अपनी मान्यता से विरुद्ध देखकर मीमांसक जी ने टिप्पणी में लिख दिया—"यह वाक्य व्यर्थ सा प्रतीत होता है ।"

भूमिका का भाषार्थ प्रायः संस्कृत के अनुसार नहीं है । यदि भूमिका का संस्कृत-भाग भाषार्थ से भिन्न कर दिया जाए तो ग्रन्थ के अधिकतर स्थल अपूर्ण रह जायेंगे और ग्रन्थकर्त्ता के बहुत से परमावश्यक भाव ग्रन्थ से पृथक् हो जायेंगे । इस विषय का विस्तृत विचार ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋ० भा० भूमिका के प्राक्कथन में श्री पं० सुदर्शनदेव जी ने किया है । पाठक वहां देख सकते हैं ।

यथार्थ बात यह है कि भूमिका के भाषार्थ से श्री मीमांसकादि विद्वानों की मिथ्या-मान्यताएँ मेल नहीं खातीं । अतः उन्होंने भाषार्थ को महर्षि का स्वीकार नहीं किया । जैसे सृष्टिसंवत् विषय में महर्षि ने जो भाषार्थ में लिखा है, वह संस्कृत में तो है नहीं । भाषार्थ को महर्षि का मानें तो एक अरब सत्तानवे करोड़ वाला संवत् कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । अतः ये विद्वान् महर्षि को अपनी मान्यताओं के अनुसार घसीटने के लिए कुछ भी लिख देवें तो भी आश्चर्य क्या है । श्री मीमांसक जी की मान्यता को देखकर अपने को महर्षि का अनन्य भक्त मानने वाले संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ श्री खेमचन्द जी यादव ने तो फतवा ही दे दिया है कि सृष्टिसंवत् विषय में भाषार्थ में केवल ७० पंक्तियां ही प्रामाणिक हैं । शेष बाद की मिलावट हैं । परन्तु संस्कृत-भाषा से अनभिज्ञ होने से यादव जी ऐसा कहें तो आश्चर्य नहीं । क्योंकि वे संस्कृत का भाषार्थ से मिलान नहीं कर सकते । परन्तु संस्कृत भाषा के मूर्धन्य विद्वान् भी ऐसी मिथ्या मान्यता से कैसे ग्रस्त हुए, यह आश्चर्य ही है । और यदि उन की बातों में कुछ तथ्य है तो उन्होंने आज तक हमारे लेख का उत्तर क्यों नहीं दिया? इससे स्पष्ट है कि वे भ्रान्तिवश ही ऐसी टिप्पणी दे गए परन्तु बाद में पश्चात्ताप ही रहा होगा । अतः भूमिका का भाषार्थ महर्षि का ही है पण्डितों का नहीं ।

(२) कुछ आर्य-विद्वानों ने महर्षि की वेदार्थ-शैली का भी दुरुपयोग करने का प्रयास किया

है । महर्षि ने वैदिक पदों को निरुक्त के आधार पर आख्यातज माना है । जिस का ये विद्वान् गलत अर्थ लगा कर यह कहा करते हैं कि वैदिक पदों के यौगिकता अर्थात् धातुप्रत्यय के विभाग के आधार पर जितने भी अर्थ सम्भव हैं, उस पद के उतने अर्थ किये जा सकते हैं । इसी आधार पर आधुनिक वेद-प्रवचन-कर्त्ता मन्त्रों के मनमाने अर्थ करके जनता को रिझाते रहते हैं । जनता तो बिलकुल अनभिज्ञ प्रायः ही है । उस के सामने कुछ भी कह जाओ, वे चुपचाप सुनते रहते हैं । स्वाध्याय की रुचि समाप्त ही हो गई है फिर समझने की योग्यता कैसे आ सकती है ।

परन्तु महर्षि के वेद-भाष्य तथा भूमिका के पढ़ने से स्पष्ट होता है कि इन विद्वानों की वेदार्थ शैली महर्षि तथा शास्त्रों से विरुद्ध है । प्रत्येक-मन्त्र के ऊपर देवता लिखा है, जो मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है । जिस से पदों के अर्थ सङ्गत होने चाहिए । निरुक्तकार भी लिखते हैं–

'न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः ।' (निरु० १३।१२)

अर्थात् मन्त्रों के अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करने चाहिए । जिस से वैदिक-पदों के अनेकार्थक होने पर भी प्रकरण-सम्बद्ध अर्थ ही सङ्गत होते हैं, अन्य नहीं । अतः पदों के विभिन्न अर्थ होते हुए भी सभी अर्थ सर्वत्र कदापि सङ्गत नहीं हो सकते ।

(३) **मन्त्रार्थ और त्रिविधप्रक्रिया**=आजकल कतिपय आर्य विद्वानों का ऐसा मन्तव्य है कि वेद के मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं । जैसे श्री पं० आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री अपने सामवेद-भाष्य की भूमिका में त्रिविध प्रक्रिया के विषय में लिखते हैं–

(क) 'सभी वेद-मन्त्रों का अर्थ तीन प्रक्रियाओं में होता है ।' (पृ० ४८)

(ख) 'आर्ष प्रक्रियानुसार प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है । वह तीन प्रकार आधियाज्ञिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शब्दों से व्यवहृत होता है । इस प्रकार को ही निरुक्तादि शास्त्रों में प्रतिपादित किया है ।' (पृ० २२)

स्वर्गीय वैदिक विद्वान् पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने अपने सम्पादित यजुर्वेद-भाष्य की विवरण-भूमिका में इस त्रिविध-प्रक्रिया को प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया है । और अपने मन्तव्य की पुष्टि में यजुर्वेद-भाष्य के विवरण में प्रथम दो अध्यायों में प्रत्येक मन्त्र के ऋषिभाष्य को इस त्रिविध प्रक्रिया में ढालने का असफल प्रयास भी किया है ।

इन दोनों मूर्धन्य विद्वानों ने त्रिविध प्रक्रिया को माना अवश्य है परन्तु स्वयं भी भ्रान्त ही प्रतीत होते हैं । क्योंकि त्रिविध प्रक्रिया को मानकर आचार्य वैद्यनाथ जी ने आधियाज्ञिक, आधिदैविक, आधिभौतिक के अतिरिक्त आध्यात्मिक प्रक्रिया एक और मानी है । ऐसे ही श्री जिज्ञासु जी ने विवरण-भूमिका में तो आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधियाज्ञिक तीन प्रक्रियाएं मानी हैं, परन्तु (यजु० १।३) में, आधिभौतिक प्रक्रिया और स्वीकार कर ली है । श्री जिज्ञासु जी जीवन भर ऋषिभक्त रहे । परन्तु त्रिविध प्रक्रिया के लिए अनार्ष ग्रन्थों के प्रमाण उन्हें कैसे रुचिकर हुए ? यह तो वे ही जानें । उन्होंने एक भी निरुक्तादि शास्त्रों का प्रमाण नहीं दिया, जो त्रिविध प्रक्रिया को सिद्ध करता हो । और जो त्रिविधप्रक्रिया के आधार पर मन्त्रार्थ दिखाये हैं–उन में कोई अर्थ महर्षि के पदार्थ में, कोई अन्वय में, कोई भावार्थ में और कोई भाषार्थ में से लिया है । क्या कोई भाष्यकार अपने भाष्य में इस प्रकार अर्थों की बखेर कर सकता है ? पदार्थ, अन्वय, भावार्थ तथा भाषार्थ सभी भिन्न-भिन्न अर्थों को बतायें । यह कैसी विचित्र कल्पना है ।

इस त्रिविधप्रक्रिया को मानने वाले प्रायः महर्षि दयानन्द के और निरुक्त के निम्न उद्धरणों

को देकर स्वाभीष्ट को सिद्ध किया करते हैं । परन्तु उन से उन का अभीष्ट कदापि सिद्ध नहीं होता। देखिए–

(क) श्री जिज्ञासु जी ने अपने मन्तव्य की पुष्टि में, (भाष्यविवरण, पृ० ३० पर) महर्षि के निम्न उद्धरण दिये हैं–"देवता के महामहिम होने से एक आत्मा की ही बहुत प्रकार से (वेद मन्त्रों में) स्तुति की जाती है ।" महर्षि (ऋ० भा० भू०, पृ० ६५)

(ख) 'इस वेद-भाष्य में जिस जिस मन्त्र का पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार का अर्थ होना सम्भव है । उस उस का दोनों प्रकार का अर्थ किया जायेगा परन्तु किसी भी मन्त्र में ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं ।' (ऋ० भा० भू०, पृ० ३६३)

उपर्युक्त उद्धरणों से त्रिविध प्रक्रिया कदापि सिद्ध नहीं होती । महर्षि मन्त्रों के दो प्रकार के अर्थ मानते हैं–(१) पारमार्थिक (२) व्यावहारिक । इन दोनों प्रकार के अर्थों को भी प्रत्येक-मन्त्र में स्वीकार नहीं किया है । जहां-जहां सम्भव है, वहीं-वहीं दोनों प्रकार का अर्थ हो सकता है, सर्वत्र नहीं । महर्षि ने श्लेषालङ्कार से भाष्य में कहीं कहीं दो प्रकार के अर्थ किये भी हैं । और जो देवता की महामहिम होने की बात है, वह भी अन्य विषयक ही है । देखिए महर्षि लिखते हैं–

"सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति । कुतः । आत्मनो माहाभाग्यादर्थात् सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात् ॥" (ऋ० भा० भू०, पृ० ६५)

यहां महर्षि ने 'माहाभाग्यात्' का अर्थ सर्वशक्तिमान् आदि किया है । और वह भी ईश्वरपरक अर्थ किया है । इस से त्रिविधप्रक्रिया का भाव कदापि नहीं निकल सकता ।

और महर्षि के किसी भी ग्रन्थ में ऐसा लेख नहीं मिलता, जिस से त्रिविध प्रक्रिया सिद्ध होती हो । महर्षि दयानन्द का लेख त्रिविधप्रक्रिया का स्पष्ट खण्डन करता है । देखिए–

"ओ३म्" यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं । इस से क्या सिद्ध हुआ कि जहां-जहां स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक शुद्ध सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है ।''''''जहां-जहां उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहां-वहां परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता जहां-जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहां-वहां जीव का ग्रहण होता है । ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ।" (सत्या० प्रथम समु०)

इस से स्पष्ट है कि प्रत्येक मन्त्र के त्रिविध अर्थ कदापि नहीं हो सकते । जिस मन्त्र में सर्वज्ञादि विशेषण होंगे, उस का जीवपरक अथवा प्रकृतिपरक और जिस में अल्पज्ञादि या उत्पत्ति आदि विशेषण होंगे उस का परमेश्वरपरक अर्थ कैसे सम्भव है ?

निरुक्तकार महर्षि यास्क ने भी त्रिविधप्रक्रिया का स्पष्ट खण्डन करते हुए लिखा है–

"तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृता सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य । अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना''''''अथाध्यात्मिक्यश्च उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ।"

(निरु० ७।१-२)

इस निरुक्त वचन की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ऋ० भा० भू० में लिखते हैं–'वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं । कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात्

दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को ।"(ऋ० भू०, प्रश्नोत्तर०)

यहां महर्षि ने कितना स्पष्ट लिखा है कि कोई मन्त्र दृश्य अर्थों का कोई अदृश्य अर्थों का और कोई आत्मा-परमात्मा का वर्णन करता है । अतः प्रत्येक मन्त्र के त्रिविधप्रक्रिया से अर्थ कैसे सम्भव हो सकते हैं ? प्रत्येक मन्त्र के आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ भी असम्भव हैं । क्योंकि पदार्थों में कुछ सामान्य और कुछ विशेष गुण, कर्म तथा स्वभाव होते हैं । यदि अग्नि आदि देवता वाले मन्त्र में सभी विशेषणों को अनेकार्थक मानकर मन्त्रार्थ ईश्वर, जीव तथा प्रकृतिपरक सम्भव हो तो ईश्वर, जीव और प्रकृति के गुणों में विशेषता कुछ भी नहीं रहेगी और सभी एक समान ही गुण, कर्म, स्वभाव वाले हो जायेंगे । इस से बड़ा अनर्थ यह हो जायेगा कि जड़ चेतन में तथा ईश्वर-जीव में कोई भेद ही नहीं रहेगा । वैशेषिक-दर्शन के अनुसार पदार्थों में कुछ समानता और कुछ विशेषता होती है तदनुसार ही महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'अग्नि' आदि के विशेषणों को दृष्टि में रखते हुए कहीं ईश्वर और भौतिक दोनों अर्थ, कहीं केवल ईश्वरपरक और कहीं केवल भौतिक अर्थ किया है । यही प्राचीन वेद-भाष्यकर्त्ता ऋषियों का युक्तियुक्त सिद्धान्त है ।

मन्त्रों के अनेकार्थ विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं–

"इस वेदभाष्य में जिस-जिस मन्त्र के श्लेषालङ्कारादि से प्रमाण-सहित पारमार्थिक और व्यावहारिक दो अर्थों का सम्भव है, उस मन्त्र के दो दो अर्थ किये जायेंगे ।" (ऋ० भा० भू० प्रतिज्ञाविषय)

अतः प्रत्येक मन्त्र के तीन अर्थ सम्भव हैं, यह मान्यता महर्षि दयानन्द के लेखों से कथञ्चिदपि सिद्ध नहीं होती । अतः विद्वानों की त्रिविधप्रक्रिया की जैसी मान्यताएं कपोल कल्पित होने से मिथ्या ही हैं ।

(४) **सृष्टिसंवत्**–महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदोत्पत्ति' विषय में सृष्टिसंवत् के विषय में बहुत ही स्पष्ट तथा प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि वेदोत्पत्ति तथा जगदुत्पत्ति का ऐतिहासिक संवत् एक अरब छानवे करोड़ आठ लाख बावन हजार नौ सौ छिहत्तर वर्ष (१९६०८५२९७६ वर्ष) सं० १९३३ वि० में बनता है । परन्तु आर्यजगत् में महर्षि दयानन्द के लेख के विरुद्ध एक अरब सत्तानवे करोड़ वाला सृष्टिसंवत् ही व्यवहार में लाया जा रहा है । इस में कुछ आर्य-विद्वानों की मिथ्या मान्यता तो कारण है ही, किन्तु हमारी शिरोमणि सभा (सार्वदेशिक-सभा) का भी कम दोष नहीं है । क्योंकि बार-बार सचेत तथा प्रबुद्ध करने पर भी सभाधिकारी न तो कोई उत्तर देते हैं और नहीं विद्वत्-सभा में निर्णयार्थ ही इस विषय को रखते हैं। यह आर्य-जगत् का जहां महादुर्भाग्य है, वहां आर्यों की ललाट-पट्टिका पर महाकलङ्क भी है क्योंकि सत्य-असत्य के ग्रहण व त्याग करने में सदा उद्यत रहने वाले आर्य क्या दूसरों को ही उपदेश देते रहेंगे ? क्या वे स्वयं सत्य-पक्ष को ग्रहण करने में हठवश संकोच ही करते रहेंगे ?

हमारे ट्रस्ट ने सृष्टिसंवत् विषय में दयानन्दसन्देश का विशेषाङ्क भी निकाला है, जिस का आर्य विद्वान् आज तक कोई उत्तर नहीं दे सके हैं । सृष्टिसंवत् का विषय गणित का प्रश्न है । उस में तो एक वर्ष का भी अन्तर नहीं रहना चाहिए परन्तु उस में करोड़ों वर्षों का अन्तर मानकर उसी का व्यवहार करना कैसी विचित्र विडम्बना है ?

अपनी मिथ्या-मान्यता को दुराग्रहवश सिद्ध करने के लिए कुछ विद्वानों ने पौराणिक-कल्पनाओं अर्थात् सन्धि-काल (जल-प्लव) आदि का आश्रय ही नहीं लिया है; अपितु श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने महर्षि के ग्रन्थों में टिप्पणी देकर महर्षि की त्रुटि दिखाने का भी दुस्साहस किया है ।

महर्षि के समस्त ग्रन्थों में सृष्टिसंवत् विषय में सर्वत्र एकरूपता देखने को मिलती है । यदि कहीं गणना में त्रुटि रह जाती है तो अन्यत्र तो त्रुटि नहीं होनी चाहिए । क्या कोई विद्वान् उन की गणना में एक अङ्क की भी भूल दिखा सकता है ? कुछ विद्वान् इसे ज्योतिष् का विषय कहकर पराङ्मुख हो जाते हैं । क्या ज्योतिष् के विद्वान् समाप्त ही हो गए हैं ? जो विषय का निर्णय नहीं कराया जा सकता। अपनी मान्यता की सिद्धि के लिए वे विद्वान् वर्तमान में उपलब्ध मयासुर रचित 'सूर्यसिद्धान्त' का आश्रय लेते हैं । हम ने उस 'सूर्यसिद्धान्त' के भी परस्पर-विरोध विद्वानों के समक्ष रक्खे हैं । जिन की सङ्गति लगाने में कोई भी विद्वान् समर्थ नहीं हो सका है । पौराणिक ज्योतिषियों ने तो अपने पत्रे पर ऋषि की मान्यता वाला संवत् लिखना आरम्भ भी कर दिया है । किन्तु हमारी शिरोमणि सभा अभी तक हठतावश मयासुर के मार्ग पर चल रही है जिस में स्वयम् उस के ग्रन्थ में परस्पर विरोध है तथा गणना के एवम् अनेक प्रकार के सैद्धान्तिक दोष उत्पन्न होते हैं ।

सृष्टिसंवत् विषय में हमारी स्पष्ट मान्यता है कि महर्षि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट सृष्टिसंवत् सर्वथा शुद्ध है । और उस में मनुस्मृति तथा ज्योतिष् के ग्रन्थों से गणना में कोई विरोध नहीं है । विरोध है तो मिथ्या कल्पनाओं में है । हम इस विषय में विचार-विमर्श के लिए सर्वदा निष्पक्ष भाव से उद्यत हैं । इस विषय में दयानन्दसन्देश का 'सृष्टिसंवत् विशेषाङ्क' पढ़ना चाहिए । जिस में इस विषय के विभिन्न पक्षों पर सयुक्तिक तथा सप्रमाण विचार किया गया है ।

(५) **हृदय का स्थान**—महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में छान्दोग्य उपनिषत् का प्रमाण देकर हृदय के स्थान के विषय में लिखा है—"जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उस में प्रवेश किया चाहे, उस समय इस रीति से करे कि-(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय-देश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उस के बीच में जो गर्त है, उस में कमल के आकार वेश्म=अवकाश रूप एक स्थान है, उस के बीच में वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर खोज करने से मिल जाता है ।" (ऋ० भा० भू० उपासनाविषय)

इस स्थल पर श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने टिप्पणी देते हुए लिखा है—"यहां हृदय-देश का जो लक्षण भाषा में लिखा है, वह संस्कृत में नहीं तथा यह लोक प्रसिद्ध हृदय-स्थान को लक्ष्य में रख कर अनुवादक पण्डितों द्वारा किया गया लक्षण प्रतीत होता है ।"

यहां श्री मीमांसक जी ने भूमिका की भाषा को पण्डितों का अनुवाद बताकर उस के बहाने महर्षि दयानन्द की मान्यता का स्पष्ट खण्डन किया है । भूमिका का भाषार्थ पण्डितों का किया है, यह एक मिथ्या मान्यता है, यह पूर्व लिख चुके हैं । हृदय का लक्षण क्या है ? यह महर्षि के अन्य ग्रन्थों से मिलाकर यदि मीमांसक जी विचार करते तो ऐसा कदापि न लिखते । महर्षि ने पञ्चमहायज्ञविधि में सन्ध्या के इन्द्रिय-स्पर्शमन्त्र तथा मार्जनमन्त्र में कण्ठ और नाभि-प्रदेश के बीच में हृदय देश का स्पष्ट उल्लेख किया है । और सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समु० में महर्षि लिखते हैं—'आचमन उतने जल को हथेली में लेके उस के मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगा के करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुंचे ।' यहां भी महर्षि ने हृदय को कण्ठ के नीचे माना है।

परन्तु श्री मीमांसक जी महर्षि के लेख को अपनी मान्यता के अनुकूल न पाकर टिप्पणी दे गए । और आगे (पृ० २०६, टि० सं० २ पर) आपने अपनी मान्यता को स्पष्ट भी किया है—"मन्त्रों में जिस हिरण्यमय कोशान्तर्गत ब्रह्मपुर में आत्मारूपी और ब्रह्म की प्रतिष्ठा बताई है वह

मस्तिष्कान्तर्गत आज्ञाचक्र समीपवर्ती स्थान है ।"

इस से स्पष्ट है कि मीमांसक जी हृदय-देश को मस्तिष्कान्तर्गत आज्ञाचक्र के समीप मानते हैं । परन्तु यह उन की मान्यता स्वयं कल्पित है और महर्षि के लेख के विरुद्ध है । महर्षि हृदय और मस्तक स्थानों को भिन्न-भिन्न मानते हुए लिखते हैं—

"(धारणा) उस को कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभागादि देशों में स्थिर करके ओङ्कार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उस का विचार करना ।" (ऋ० भू० उपासना०)

अत: ऋ० भू० में जो हृदय का स्थान कण्ठ के नीचे माना है वह सत्य है । उस के विरुद्ध महर्षि के ग्रन्थों में भ्रान्तिजनक टिप्पणी देना विद्वानों के लिए शोभा नहीं देता । इस पर विस्तृत विचार ट्रस्ट की पूर्व-प्रकाशित भूमिका के प्राक्कथन में भी श्री पं० सुदर्शनदेव जी ने सप्रमाण किया है । पाठक वहां देख सकते हैं ।

(६) **श्री आचार्य विश्वश्रवा की भ्रान्ति**—श्री आचार्य जी ने १४।११।७६ के आर्यमित्र पत्र में एक लेख दिया है । उस में आप लिखते हैं—

"दो व्यक्तियों ने महर्षि के यजुर्वेद-भाष्य पर टीका न करके दूसरे ढांचे में वेद-भाष्य का स्वरूपाधान किया । जिस शैली को स्वयं स्वामी जी ने छोड़कर पदार्थ, अन्वय, भावार्थ की शैली अपनाई। वे दोनों के ग्रन्थ भी मुद्रित हैं । मैं उस अनर्थ की चर्चा नहीं करता ।"

यहां आचार्य जी ने पता नहीं किस भय से ट्रस्ट का नाम नहीं लिया है । प्रतीत हो रहा है कि अन्तरात्मा तो इस मिथ्या बात को लिखने के लिए सन्नद्ध नहीं था, परन्तु दुष्प्रकृति अपने स्वभाव को कैसे छोड़ती । आचार्य जी का आक्षेप यह है कि पदार्थ और अन्वय को इकट्ठा नहीं छापना चाहिए । यह महर्षि की शैली नहीं परन्तु क्या आचार्य जी बता सकते हैं कि महर्षि के भाष्य में जो भाषार्थ छपा हुआ है, क्या वह सान्वय-पदार्थ नहीं है जिस को महर्षि ने स्वयं देखकर पण्डितों को वैसा ही भाषार्थ करने की प्रेरणा बार-बार दी थी ? क्या सान्वय पदार्थ के विना मन्त्रार्थ हृदयङ्गम हो सकता है ? कैसी विक्षिप्त जन की भांति आचार्य जी की बात है जो वेदभाष्य के श्रेष्ठ-कार्य की भी असूया दृष्टि से निन्दा करते फिरते हैं और अपने को महर्षि दयानन्द का अनन्य भक्त बताकर भोली आर्य जनता को ठगते रहते हैं और अपनी पुस्तकों में महर्षि दयानन्द की मान्यता का खण्डन करते रहते हैं ।

परोपकारिणी सभा से छपे वेदभाष्यों पर पहले भाषार्थ का शीर्षक "पदार्थान्वयभाषार्थ" लिखा हुआ आता था किन्तु अब श्री आचार्य विश्वश्रवा जी ने केवल "पदार्थ:"—लिखाकर पाठ-परिवर्तन (संशोधन) करा दिया है । उत्तराधिकारी सभा से उन के ग्रन्थों में सहस्रों स्थानों पर इतना भारी पाठ परिवर्तन कराना जघन्य पाप है । संशोधकों के दृष्टिदीप से अब भी कहीं कहीं, "पदार्थान्वयभाषार्थ" लिखा हुआ मिलता है एवं वहां भाषार्थ दोनों को मिला कर ही कराया और किया गया है जिस से स्पष्ट सिद्ध है कि यह शैली ऋषि दयानन्द की है । आचार्य जी का इस शैली को दोष युक्त बताना सीधा ऋषि पर आक्षेप है ।

स्थालीपुलाक-न्याय से आचार्य जी की महर्षि की वि-भक्ति का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । महर्षि ने ऋ० भू० के प्रश्नोत्तर विषय में लिखा है कि मन्त्रों के प्रारम्भ में जो ऋषियों के नाम लिखे हैं, वे ऐतिहासिक पुरुष हैं । उनकी मन्त्रार्थ में कोई सहायता नहीं लेनी पड़ती है । महर्षि

लिखते हैं—

"जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस का नाम उसी-उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है ।" परन्तु श्री आचार्य जी महर्षि के विरुद्ध लिखते हुए भी सङ्कोच नहीं कर सके । और स्वयं कल्पित मान्यता वश मन्त्रों के प्रारम्भ में लिखे ऋषियों को मन्त्रार्थ में सहयोगी मानते हैं । देखिए उनका लेख—

'मन्त्रार्थ-ज्ञान में जहां देवता और छन्द सहायक हैं, वहां ऋषि-ज्ञान भी मन्त्रार्थ में सहायक है । वेङ्कट-माधव ने ऋग्वेद प्रथम मन्त्र 'अग्निमीळे' के व्याख्यान में लिखा है—

'अर्थज्ञान ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम् ।'

अर्थात् अर्थ-ज्ञान में ऋषि-ज्ञान अत्यन्त उपकारक है । और वह इस प्रकार कि मन्त्रों के जो ऋषि प्रत्येक मन्त्र पर लिखे हैं, ये ऋषि सर्वप्रथम मन्त्र के प्रचारक हैं । इन के अपने निजी नाम अन्य थे और जब ये ऋषि किसी विशेष मन्त्र के प्रचारक बने तब इन का नाम इस प्रकार प्रसिद्ध हुआ कि जिस नाम के अर्थ का सम्बन्ध मन्त्रार्थ से था । विश्वामित्र का पहला नाम विश्वरथ था, जब ऋषि बना तब उसका नाम विश्वामित्र हुआ, ऐसा कहा जाता है ।

(सन्ध्या-पद्धतिमीमांसा, पृ० २४१-२४२)

समीक्षा—यहां आचार्य जी ने देवता के समान छन्द तथा ऋषियों को मन्त्रार्थ में सहायक माना है । यह उनकी अनार्ष मान्यता है । महर्षि दयानन्द ने निरुक्त का प्रमाण देकर लिखा है—

(क) **'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'** । (नि० १।२०)

कीदृशा ऋषयो भवन्ति इत्यत्राह । यतः 'साक्षात्कृतधर्माणो धार्मिका आप्ताः, यैः सर्वा विद्याः यथावद् विदिताः । येऽवरेभ्यो ह्यसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् मन्त्रार्थांश्च सम्प्रादुः= प्रकाशितवन्तस्तस्मात्ते ऋषयो जाताः ।' **(ऋषिदयानन्दभाष्यम्)**

अर्थ—ऋषि कैसे होते हैं ? जो धर्म को साक्षात् करने वाले आप्त पुरुष होते हैं, जो सब विद्याओं को यथावत् जानते हैं । वे दूसरे धर्म को साक्षात् करने में असमर्थ मनुष्यों के लिए उपदेश से वेद-मन्त्रों व उन के अर्थों को प्रकाशित करने के कारण ऋषि कहलाते हैं ।

(ख) **'ऋषिप्रशंसा चैवमुच्चावचैरभिप्रायै ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ।'**(निरु० ७।३)

इयमेव ऋषीणां प्रशंसा यतस्ते एवमुच्चावचैर्महदल्पाभिप्रायैर्मन्त्रार्थैर्विदितैः प्रशंसनीया भवन्ति । तेषामृषीणां मन्त्रेषु दृष्टयोऽर्थादत्यन्तपुरुषार्थेन मन्त्रार्थानां यथावद् दर्शनानि ज्ञानानि भवन्ति, तस्मात्ते पूज्याः सत्कर्तव्या आसन्निति । (ऋषिदयानन्दभाष्यम्)

अर्थ—यही ऋषियों की प्रशंसा है, क्योंकि वे गम्भीर व सामान्य अभिप्राय वाले मन्त्रार्थों को जानने से प्रशंसनीय होते हैं । उन ऋषियों की मन्त्रों में दृष्टियां अर्थात् वे अत्यन्त पुरुषार्थ से मन्त्रों के अर्थों को ठीक-ठीक जानते हैं । अतः वे पूजा के योग्य बने ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि महर्षि दयानन्द ने कहीं भी ऋषि नामों को मन्त्रार्थ में सहायक होने की बात नहीं लिखी और अपने वेद-भाष्य में किसी भी मन्त्र के अर्थ में ऋषि नाम की सहायता नहीं ली । और अपनी मान्यता का स्पष्ट निर्देश ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया है । जिस से श्री विश्वश्रवा जी की पौराणिक कल्पना का खण्डन हो जाता है । देखिए—

'वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तद्ऋषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति । कुतः ? यैरीश्वर-ध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य

प्रकाशितत्वात् । तत्कृतमहोपकार-स्मरणार्थं तन्नामोल्लेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्ति ।'

(ऋ० भा० भू०)

अर्थ—जब प्राचीन ऋषि लोग वेद-मन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे उन में से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया उस-उस का नाम उसी-उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा है । और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े प्रयत्न के साथ वेद-मन्त्रों का अर्थ जानकर सब मनुष्यों के महोपकार के लिए प्रकाशित किया है, उस उपकार की स्मृति के लिए ही मन्त्रों के प्रारम्भ में ऋषियों के नाम लिखे हैं ।

आचार्य विश्वश्रवा जी ने अपनी मान्यता की पुष्टि में वेङ्कटमाधव का एक श्लोक उद्धृत किया है । यह भी कितने आश्चर्य की बात है महर्षि दयानन्द को निर्भ्रान्त साक्षात्कृतधर्मा आप्त पुरुष मानने वाले आचार्य जी उन्हीं के विरुद्ध वेङ्कटमाधव का प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं । यह भी इसलिए कि आर्यसमाज सायणाचार्य का तो प्रबल खण्डन करता है, अतः उसका नाम न देकर वेङ्कटमाधव के नाम से लोग मान जायेंगे । क्या यह स्पष्ट धोखा नहीं है ? क्योंकि वेङ्कटमाधव का भाष्य तो सायण का ही अनुसरण करता है ।

श्री आचार्य जी लिखते हैं—पञ्चमहायज्ञविधि में **'चित्रं देवानाम्०'** (७।४२) यजुर्वेद का ऋषि कुत्स है । 'कुत्स=जो बन्धनों को काट रहा है अर्थात् साधारण युञ्जान उपासक'—यह कुत्स का अर्थ दिखा कर लिखा है कि 'पञ्चमहायज्ञविधि की सन्ध्यापद्धति सर्वसाधारण युञ्जान के लिए है और संस्कारविधि की विशेष उपासक युक्त के लिए ।' (सन्ध्यापद्धतिमीमांसा, पृ० २४१-२४२)

यहां आचार्य जी की विचित्र कल्पना देखिए कि 'चित्रं देवानाम्' मन्त्र का ऋषि 'कुत्स' है। उसके आधार पर पञ्चमहायज्ञविधि की सन्ध्या साधारण उपासक अर्थात् गृहस्थियों के लिए है और 'चित्रं देवानाम्०' यजु० १३।४६ मन्त्र का ऋषि 'विरूप' है । जिस के आधार पर संस्कारविधि की सन्ध्या योगियों के लिए आचार्य जी मानते हैं । क्या आचार्य जी बता सकते हैं कि सन्ध्या में और मन्त्र भी तो हैं **उनके ऋषियों के अर्थ कहां और कैसे सहायक हुए ? और यह कैसी विचित्र बात है कि संस्कारविधि में गृहस्थाश्रम में लिखी सन्ध्या योगियों के लिए कैसे हो गई ?** उसे गृहस्थियों के लिए तो मान भी सकते थे । अतः आचार्य जी अपनी कल्पनाओं की उड़ान में ही यह सब लिख गये । महर्षि दयानन्द ने तो अपने वेद-भाष्य में कहीं भी 'कुत्स' का युञ्जान या उपासक अर्थ नहीं लिखा है । यह अर्थ भी आप को कल्पना से ही सूझा है ।

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि की सन्ध्या में संशोधन ही किया है । जहां पञ्चमहायज्ञों में संशोधन की आवश्यकता न थी, वहां नहीं किया । जैसे पितृयज्ञ (संस्कारविधि) को देखा जा सकता है । किन्तु दोनों सन्ध्याओं में भेद करना स्वामी जी को अभीष्ट न था । अतः दोनों सन्ध्याओं का भेद भी आचार्य जी की अपनी कल्पना ही है ।

यहां 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' से सम्बद्ध कुछ आर्य विद्वानों की भ्रान्तियों पर ही विचार किया गया है । और इन का निराकरण स्वयं भूमिका के स्वाध्याय से भी पाठक कर सकते हैं । महर्षि के वैदिक सिद्धान्तों तथा वेद-भाष्य को तो इस भूमिका के विना कदापि नहीं समझा जा सकता । हम ने भी आर्य विद्वानों की भ्रान्तियों के विषय में जो कुछ लिखा है, वह इस भूमिका के आधार पर ही लिखा है । किसी से किसी प्रकार का द्वेष-भाव रखकर नहीं । गुणगृह्य आर्य-विद्वान् इसे पढ़कर यदि कोई हमारी त्रुटि अनुभव करें तो निष्पक्ष होकर हमें बतायें । हम उन का हृदय से आभार मानेंगे और जो महर्षि के ग्रन्थों के अनुकूल है, उसे स्वयं भी स्वीकार कर विद्वत्ता का परिचय देंगे ।

महर्षि दयानन्द का ही वेद-भाष्य क्यों पढ़ें–

महर्षि-दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर इस प्रकार लिखा है–

(क) 'जब मेरा वेद-भाष्य पूर्ण हो जायेगा तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जायेगा कि मेरे सिद्धान्त वेदानुकूल हैं ।' (भ्रान्तिनिवारण, पृ० ३)

(ख) 'मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष को नहीं देखता, और उन्हीं पर मेरे सिद्धान्त वेदानुकूल हैं ।' (भ्रान्तिनिवारण, पृ० ४)

(ग) 'परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देखने को मिला कि वेद-भाष्य पूर्ण हो जाए तो निस्सन्देह आर्यावर्त्त देश में सूर्य का सा प्रकाश हो जायेगा कि जिस को मेटने और झांपने का किसी को सामर्थ्य न होगा । क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं है कि जिस को कोई सुगमता से उखाड़ सके ।' (भ्रान्तिनिवारण, पृ० ४)

(घ) 'इस वेद-भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है, वह सब सज्जन लोगों के आत्माओं में यथावत् प्रकाशित होगा । तथा वेदों के ऊपर लोगों ने मिथ्या जो व्याख्यान किए हैं, उन की निवृत्ति भी इस भाष्य से अवश्य होगी ।' (पत्र और विज्ञापन, पृ० ३६)

(ङ) 'यह भाष्य ऐसा होगा कि जिस से वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं में वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जायेंगे और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध होगा कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें ।' (ऋ० भा० भूमिका, पृ० २)

(च) 'जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है । क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है । यही इस में अपूर्वता है ।' (ऋ० भा० भूमिका भाष्यकरण शङ्कासमा०)

इन महर्षि के स्वयं हृदयस्थ-उद्गारों से अनुप्राणित महर्षि के वेद-भाष्य को यदि पाठक जानना चाहते हैं और 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है' इस महर्षि के अपूर्व वचन का यदि विद्याप्रेमी जिज्ञासु विद्वज्जन यथार्थ रूप देखना चाहते हैं, और ईश्वरोक्त वेद शाश्वत हैं, इस में परस्पर विरोधी, सृष्टिनियम से प्रतिकूल, अवैज्ञानिक तथा असङ्गत बातें नहीं हैं, इसे जानने की यदि आप लेशमात्र भी इच्छा रखते हैं अथवा हृदय से सत्यासत्य का निष्पक्ष निर्णय चाहते हैं तो महर्षि के वेद-भाष्य को पढ़िये । हमारे ट्रस्ट ने अथक परिश्रम एवं लग्न से वैदिक विद्वानों को नियुक्त कर महर्षि के सम्पूर्ण वेद-भाष्य को सव्याख्या छापने का एक महान् कार्य प्रारम्भ कर रखा है । यजुर्वेद सम्पूर्ण भाष्य छपकर तैयार है और ऋग्वेद का भाष्य ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित शीघ्र ही छपकर पाठकों की सेवा में आने वाला है । महर्षि के वेद-भाष्य को समझने के लिए महर्षि लिखित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को अवश्य पढ़िये । महर्षि स्वयं यह आदेश दे गए हैं कि मेरा भाष्य भूमिका के विना समझ में नहीं आ सकता । अतः वेद-भाष्य को भूमिका के विना न बेचा जाए देखिए । महर्षि के वचन–

"जो कोई भूमिका के विना केवल वेद ही लिया चाहे, सो नहीं मिल सकते ।"

(पत्र और विज्ञापन, पृ० १८ पर)

महर्षि के वेद-भाष्य को न समझने का मुख्य कारण यही है कि आर्यसमाज ने महर्षि के

आदेश का पालन नहीं किया । आज तक सभी वेद-भाष्यों के प्रकाशन भूमिका रहित ही मिलते हैं । ट्रस्ट के अधिकारियों का यह भूमिका-सहित वेद-भाष्य प्रकाशन का कार्य अत्यन्त ही प्रशंसनीय तथा उपयोगी सिद्ध होगा । अतः वे भूरि-भूरि प्रशंसा के अधिकारी हैं । निष्पक्ष विद्वान् इस कार्य की सदा हृदय से अवश्य प्रशंसा करेंगे ऐसा मैं समझता हूं ।

इस संस्करण की विशेषता

महर्षि-दयानन्द ने सर्वप्रथम ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का प्रकाशन अङ्कों के रूप में किया था । यह ग्रन्थ १६ अङ्कों में पूरा हुआ था । इस प्रथम संस्करण का प्रकाशन-कार्य संवत् १९३४ वि० में लाजरस प्रेस, काशी में हुआ । इस के १४ अङ्क इसी प्रेस में छपे । १५वां और १६वां अङ्क निर्णयसागर प्रेस, बम्बई में छपा । ऋषि के जीवन-काल में छपा यही प्रथम-संस्करण पूर्ण रूप से प्रामाणिक है । हमारे ट्रस्ट ने इसी प्रथम मूल संस्करण की प्रतिकृति (फोटोप्रिण्ट) कुछ वर्ष पहले पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की थी । वह भी इसलिए आवश्यक हुआ कि आजकल महर्षि के ग्रन्थों में संशोधन के नाम से मूलपाठ को भ्रष्ट किया जाने लगा है । जिससे लेखक की मूल मान्यताओं का ही अनेक स्थानों पर खण्डन होने लगा जो ऋषिभक्त जिज्ञासु महर्षि-ग्रन्थों को विशुद्ध रूप में पढ़ना चाहते हैं एवं सत्य मूल पाठ को जानना चाहते हैं, उन के लिए तथा संशोधनों की प्रबल धारा को समाप्त करने के लिए फोटोप्रिण्ट करवाना आवश्यक था । यह संस्करण भी उसी फोटोप्रिण्ट से अक्षरशः मिलान करके छापा गया है । साथ ही परोपकारिणी सभा (अजमेर) के 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के संस्करण से मिलान करके शुद्ध प्रकाशन करने का पूर्ण प्रयास किया है । मन्त्रों पर लगे स्वर-चिह्नों का मूलवेद से भी मिलान किया है ।

टीका टिप्पणियों का इस में कोई स्थान नहीं रखा है । अपनी मान्यताओं के आधार पर महर्षि के ग्रन्थों पर उन के पाठों के विरुद्ध टिप्पणियों में लिखना कदापि न्याय्य नहीं है । यदि ये सम्पादक इस कृत्य को न्याय्य समझते हैं तो वे अपने तैयार किए गए ग्रन्थों पर टिप्पणियां देने का अधिकार अपने ग्रन्थों में अन्यों को दें । किन्तु यह तथ्य है वे ऐसा कदापि नहीं करेंगे क्योंकि वे कदापि ऐसा उचित नहीं समझते । पुनः आत्मविरुद्ध होने से यह कृत्य अधर्म क्यों नहीं ? हमारे अनेक बार लिखने पर भी आज तक ऐसे किसी भी सम्पादक ने टिप्पणियां क्यों ? और इसके आधार क्या-क्या होंगे नहीं लिखा है, यदि ऐसा स्पष्ट करें तो इस कृत्य के दोषों की कलई स्वयं खुल जाये । किन्तु इस कृत्य के विषय में सम्पादकीय में कुछ भी स्पष्ट नहीं करते हुए चुपके से इस कृत्य को ऋषि-ग्रन्थों में करते जा रहे हैं । विराम-चिह्नों को पाठकों के लिए उपयोगी समझकर यथास्थान रखने का पूरा प्रयत्न किया गया है । पुनरपि विद्वान् पाठकों से विनम्र निवेदन है कि उन्हें कहीं कोई किसी भी प्रकार की त्रुटि प्रतीत हो तो अवश्य सूचित करें । जिस से भविष्य में उन की पुनरावृत्ति न हो सके । अनेक प्रयत्न करने पर भी मानवीय स्वभाववश प्रेस के कारण त्रुटियां हो सकती हैं । तदर्थ विद्वानों से क्षमा चाहता हूं । और प्रार्थना करता हूं–

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः । हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

स्थानम्–नरेला (दिल्ली)
मार्गशीर्ष शुक्ला, त्रयोदशी, सं० २०३३ विक्रमी ।

विद्वच्चरणचञ्चरीकः–
राजवीर शास्त्री

प्रथम संस्करण से—

प्राक्कथन

महर्षि की मान्यता है—सर्वतन्त्र सिद्धान्त—महर्षि दयानन्द ने अपने समस्त ग्रन्थों में उन्हीं सत्य सिद्धान्तों तथा मान्यताओं का सप्रमाण प्रतिपादन किया है, जो वेदादि सच्छास्त्रों के अनुकूल हैं और जिन्हें ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त समस्त आप्तपुरुष, मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि-मुनियों ने एकमत से स्वीकार किया है । महर्षि अपनी मान्यता को स्वयं स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं, जिन को कि मैं भी मानता हूं, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं । मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सब को एक सा मानने योग्य है । मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है ।" (सत्यार्थ० स्वमन्तव्यामन्तव्य०)

प्रमाणों का महत्त्व—महर्षि ने अपनी उपर्युक्त मान्यता के अनुसार ही अपने ग्रन्थों में वेदादि सत्य-शास्त्रों के प्रमाण पर्याप्त रूप में लिखे हैं, क्योंकि "लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्न प्रतिज्ञामात्रेण ।" लक्षण व प्रमाणों से ही किसी वस्तु की सिद्धि होती है, केवल प्रतिज्ञामात्र से नहीं। लक्षण-प्रमाण से हीन बात को कौन विद्वान् स्वीकार करेगा ? सन्दिग्ध या विवादास्पद विषय की परीक्षा के लिए महर्षि ने (सत्यार्थ० तृतीय में) जो पांच प्रकार दिखाए हैं, उन में प्रमाणों का अपना विशेष स्थान है । महर्षि प्रमाणों के लिए आवश्यक निर्देश देते हुए लिखते हैं—"जिस को आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक, पक्षपात रहित विद्वान् मानते हैं, वही सब को मन्तव्य और जिस को नहीं मानते, वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता ।"

(सत्यार्थ० स्वमन्तव्यामन्तव्य०)

न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायनमुनि प्रमाण का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं—

"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्याद् अर्थवत् प्रमाणम् ।
प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम् ।
प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा ॥"

अर्थात् विना प्रमाण के किसी पदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है और पदार्थ-ज्ञान के विना उस में प्रवृत्ति नहीं होती । क्योंकि ज्ञाता=जानने वाला प्रथम पदार्थ का ज्ञान करता है और तदनन्तर उस को ग्रहण करने या छोड़ने की इच्छा करता है । यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह हिताहित को जानकर ही किसी भी कार्य को करता है । और—"सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति ।" (न्याय० वात्स्याय०) और प्रमाण भावात्मक तथा अभावात्मक सभी पदार्थों का तथा उपलब्ध=प्रत्यक्ष व अनुपलब्ध=परोक्ष पदार्थों का भी ज्ञान कराता है ।

प्रमाण किस का मान्य है ?—इस उपर्युक्त प्रमाण की महत्ता होते हुए भी प्रामाणिक किन ग्रन्थों को माना जाए ? यह एक जटिल तथा विवादास्पद प्रश्न है । मिथ्या मत-मतान्तर वाले मनुष्यों ने ऋषि-मुनियों के नाम से अनेक ऐसे ग्रन्थों की रचना कर दी है, कि जिस से आर्ष-अनार्ष, सत्य-असत्य तथा प्रमाण-अप्रमाण का निर्णय करना बहुत ही कठिन हो जाता है । महर्षि ने अपनी योग-सम्पन्न प्रतिभा के अलौकिक बल से सर्वप्रथम वैदिकवाङ्मय के नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित थे, उनका बहुत ही गम्भीराध्ययन तथा विवेक से मन्थन किया और सत्यासत्य का निर्णय हंस की भांति नीर-क्षीर विवेक का अपूर्व कार्य किया और स्पष्ट व निर्भ्रान्त रूप से घोषणा की—

"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है । वेद ही स्वत:प्रमाण हैं और दूसरे अन्य ग्रन्थ परत:-प्रमाण हैं ।"

और यही घोषणा प्राचीन ऋषियों ने भी की थी किन्तु लोग उन्हें भूल गये थे । जैसे–

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ (मनु०)

तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ (वैशे०)

इत्यादि ऋषियों की घोषणाओं को भी महर्षि ने ही हमें स्मरण कराया और जो पक्षपात रहित, निर्भ्रान्त तथा साक्षाद्द्रष्टा आप्तपुरुष होते हैं, लोक में भी उन को ही प्रामाणिक माना जाता है । परमात्मा परमाप्त पुरुष, सर्वज्ञ तथा आदि गुरु है, उस का ज्ञान वेद है, वही निर्भ्रान्त होने से सब को परम प्रमाण मानने योग्य है । ऋषियों से निर्मित दूसरे शास्त्रों को भी महर्षि ने परम प्रामाणिक माना है । किसी शास्त्रीय विषय में विरोध या सन्देह हो तो स्वत:-प्रमाण वेद का ही मानना चाहिए ।

महर्षि दयानन्द ने देखा कि अनेक ग्रन्थ ऋषियों के नाम से लिखे हुए हैं और अनेकों आर्ष ग्रन्थों में प्रक्षेप हैं उन से लोगों को सचेत रहना आवश्यक है । चार वेदों में उक्त दोष नहीं है । आर्ष ग्रन्थ तो इन वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ ही हैं । आर्ष-व्याख्या मूल से विरुद्ध नहीं है । अत: आर्षग्रन्थ परत: प्रमाण और वेद स्वत:-प्रमाण हैं । आर्षग्रन्थों से अतिरिक्त विद्वानों के वचनों को परत: प्रमाण कहीं नहीं माना एवम् आर्ष वचनों के समान उनका आदर नहीं किया । स्वत: और परत: का भेद करते हुए लोगों में इस समय भ्रान्ति भी दृष्टिगोचर होती है । महर्षि के ग्रन्थों में कहीं भी ऋषियों के वचनों का खण्डन नहीं मिलता । किन्तु वेद और ऋषियों के ग्रन्थों का भेद करना तो आवश्यक है वेद को जानने के लिए व्याख्यान-ग्रन्थ आवश्यक हैं वे उन्होंने आर्षग्रन्थ ही स्वीकार किये हैं ।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम पृष्ठ पर महर्षि ने लिखा है कि यह ग्रन्थ **"वेदादिविविध-सच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः"** वेदादि के प्रमाणों से समन्वित है । जैसे सूर्य के निकलने पर अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, वैसे ही ज्ञान के सूर्य वेदों के प्रकाश में समस्त भ्रान्तधारणाओं, मिथ्यामान्यताओं तथा अविद्या की मिथ्या बातों का स्वत: ही उन्मूलन हो जाता है ।

महर्षि के अर्थों की विलक्षणता—महर्षि ने जिन प्रमाणों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है, उनका सामान्य मनुष्यों के ज्ञान के लिए अर्थ भी किया है । जिन वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों को दूसरे विद्वान् अथवा साम्प्रदायिक पुरुष पढ़कर भी सत्यार्थ को नहीं समझ पाते थे, अथवा दुराग्रह वश उन का मिथ्या अर्थ बताकर जन-साधारण में अनेक भ्रान्तियां फैलाया करते थे, महर्षि ने उन का सप्रमाण ऐसा सत्य एवं विलक्षण अर्थ किया है, जिन को पढ़-पढ़कर विद्वान् भी स्तब्ध रह जाते हैं और पौन:पुन्येन पढ़कर भी तृप्त नहीं होते । जब किसी विषय पर संशय या भ्रम पैदा हो जाता है, उस का निवारण फिर से महर्षि-कृत अर्थ को पढ़कर ही विद्वान् कर पाते हैं । महर्षि-कृत अर्थों में वह सत्यार्थता गूढ़ता से सन्निहित है, जिस के कारण साम्प्रदायिक विधर्मी लोग आज तक सौ वर्षों के बाद भी उनके सत्यार्थों का प्रत्याख्यान नहीं कर सके । यह महर्षि कृत अर्थों की विलक्षणता तथा अपूर्वता ही है ।

यद्यपि महर्षि के आगमन से पूर्व मध्यकालीन पौराणिक विद्वान् सायणादि के वेद-भाष्य भी विद्यमान थे, किन्तु उन की त्रुटियों तथा मिथ्यार्थता को साधारण विद्वान् नहीं समझ सके । और मिथ्यार्थों को ही सत्य मानकर पढ़ते-पढ़ाते रहे । अब भी जिन्हें मिथ्याग्रह के कारण ही पढ़ते-पढ़ाते हैं, परन्तु उनमें जो अवैदिक परस्पर विरोधी अवैज्ञानिक मान्यताएं हैं, उन को नहीं समझ सके । समझ भी कैसे सकते ? परमेश्वर के ज्ञान की यथार्थता को परमेश्वर के सान्निध्य से ही जाना जा

सकता है । जो ऋषि तथा तपस्वी नहीं है,[१] उसे वेदार्थ करने का अधिकार ही नहीं है । महर्षि ने सायणादि भाष्यकारों के दोषों का प्रदर्शन करते हुए लिखा है–

(क) "जो रावण, उव्वट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं । मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता । क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी । और जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है । क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है ।"

(ख) "और दूसरा इस के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती । और जो-जो भाष्य उव्वट, सायण, महीधरादि ने बनाए हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं ।"

(ग) "इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है । परन्तु जिस समय चारों वेदों का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्यापुस्तक वेद का परमेश्वर रचित होना भूगोलभर में विदित हो जायेगा और यह भी प्रकट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही हैं ।"

(ऋ० भू० भाष्यकरणशङ्कासमाधानविषय:)

प्रमाण-सूची की आवश्यकता–(१) स्वाध्यायशील पाठक जब ऐसे आप्त-पुरुष मन्त्रार्थ-द्रष्टा महर्षि के ग्रन्थों का अनुशीलन करते हैं तो वे प्रकरण-भेद से अथवा भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में महर्षि-व्याख्यात मन्त्रार्थों को देखना चाहते हैं । महर्षि के विभिन्न स्थानों में व्याख्यात मन्त्रार्थों में अपूर्व विलक्षणता तो है ही, किन्तु कहीं विस्तृत तथा संक्षिप्तरूपता भी है । जिस से किसी-किसी पद का अर्थ प्रकारान्तर से व्याख्या करने से एक स्थान पर स्पष्ट न होने पर दूसरे स्थान पर स्पष्ट हो जाता है । जैसे–'स पर्यगात्०' मन्त्र में 'अस्नाविरम्' पद से विद्वानों को भी सन्देह हो जाता है कि जब परमात्मा को मन्त्र में 'अकायम्' शरीर-रहित कहा है, तो नस-नाड़ी के बन्धन से रहित तो वह स्वयं ही है फिर 'अस्नाविरम्' कहना निरर्थक ही लगता है । किन्तु महर्षि ने इसकी विशेष व्याख्या ऋ० भू० के वेदनित्यत्वविचार में की है–

"(अस्नाविरम्) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है, जैसा वायु और रुधिर नाड़ियों में बन्धा रहता है, ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता ।"

इस से स्पष्ट है कि जैसे वायु निराकार होने से शरीर-रहित है, किन्तु नाड़ियों में बन्धकर कार्य करता है अथवा साइकिलादि की ट्यूबों में बन्ध जाता है, वैसा परमेश्वर का बन्धन नहीं होता । अत: यदि यह पद मन्त्र में नहीं होता तो परमात्मा के स्वरूप-वर्णन में अपूर्णता ही रहती ।

अत: महर्षि ने एक ही मन्त्र की कहां-कहां व्याख्या की है, इस का सरलता से बोध अकारादि क्रम से बनाई प्रमाण-सूची से ही सम्भव है ।

(२) प्रमाण-सूची की वर्त्तमान में इसलिए भी आवश्यकता होती है कि आज मानव सांसारिक कार्यों में अत्यधिक व्यस्त हो गया है । उसके पास किसी ग्रन्थ का बार-बार अभ्यास करने का समय कहां है । और विना अभ्यास के यह स्मरण नहीं रहता कि किस मन्त्र की कहाँ व्याख्या की है । विद्वान् उपदेष्टा व अनुसन्धान कर्त्ता पुरुषों को तो ऐसी सूचियों की पद-पद पर आवश्यकता रहती है ।

(३) प्राचीनकाल में मन्त्रों व सुभाषित श्लोकों को स्मरण करने की एक सुन्दर परम्परा

(१) न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा ॥ (निरुक्ते)

प्रचलित थी । हमारे पूर्वज सम्पूर्ण वेद तक को कण्ठस्थ करने में अपना अहोभाग्य समझते थे । किन्तु अब वह परम्परा प्राय: लुप्त होती जा रही है । और मनुष्यों की स्मृति भी मिथ्या-आहारादि के कारण प्राणायामादि स्मृति-वर्धक योगाभ्यास की प्रमुख क्रियाओं के परित्याग से तथा ब्रह्मचर्यादि दैनिक नियमों की अवहेलना करने से अब मन्द हो गई है । वह पढ़कर भी प्राय: भूल जाता है, कि मैंने कहां पर पढ़ा था । वह जानकर भी अनजान सा हो जाता है । ऐसे पुरुष को न तो विद्वान् कहा जा सकता है और न ही अविद्वान् । विद्वान् तो वही है, जिसे विद्या कण्ठस्थ हो । वेद में ऐसे पुरुष के लिए लिखा है–

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ॥"

अर्थात् ऐसा मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देख पाता, और सुनता हुआ भी नहीं सुन सकता । महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण-महाभाष्य में इस मन्त्र के उपर्युक्त भाग की व्याख्या में लिखा है–"अविद्वांसमाहार्धम्" अर्थात् इस मन्त्र के आधे भाग में अविद्वान् की दशा का वर्णन है । अत: ऐसे विस्मरणशील पुरुषों को ऐसी प्रमाण-सूचियों की महती आवश्यकता है ।

(४) मनुष्य का सामर्थ्य अल्प ही है । वह सब कुछ स्मरण कर भी नहीं सकता । और विद्या का क्षेत्र अपार है । संस्कृत में नीतिज्ञ कवि ने इस बात को इस प्रकार समझाया है–

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम् अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च ।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

अर्थात् विद्या का क्षेत्र अनन्त है, मनुष्य की आयु थोड़ी है और उस में भी बहुत प्रकार के विघ्न हैं । इस लिए हंस की भांति जल में से दूध को अर्थात् सार-सार को ही ग्रहण कर लेना चाहिए । इसलिए समस्त बातों का स्मरण रखना कहां सम्भव है ? और आज कल के भिन्न-भिन्न विषयों तथा भाषाओं के बाहुल्य में तो सम्भव ही नहीं । अत: किसी मन्त्र या विषय को सरलता से तथा शीघ्र देखने के लिए प्रमाण-सूची आदि सूचियां ही परम सहायक होती हैं ।

(५) इस प्रमाणसूची से यह भी सरलता से जाना जा सकेगा कि महर्षि ने कितने ग्रन्थों के अध्ययन के बाद उत्तम रत्नों को निकालकर अपने ग्रन्थों की रचना की है । और वे कितने ग्रन्थों को आर्ष (प्रामाणिक) तथा अनार्ष (अप्रामाणिक) मानते हैं, जिन से सत्य व असत्य का निर्णय किया जा सकता है । और यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि महर्षि ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि सर्वत्र वेद तथा आर्ष-ग्रन्थों से ही की है ।

उपर्युक्त पाठकों की आवश्यकता तथा कठिनता को ध्यान में रखकर आर्ष-साहित्य-प्रचार ट्रस्ट ने सन् १९७४ में महर्षि के समस्त ग्रन्थों के प्रमाणों की एक सूची प्रकाशित की थी । जिस का संकलन तथा सम्पादन चिरञ्जीव श्री धर्मपाल जी आचार्य ने बहुत ही परिश्रम तथा योग्यता से किया था । विद्वानों, पाठकों ने उस परमोपयोगी ग्रन्थ को बहुत ही सहायक पाया और इस प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

भ्रान्तियों का निवारण–प्रस्तुत प्रमाणसूचियों से जहां उपर्युक्त पाठकों को सहायता मिलेगी, वहां अनेक भ्रान्तियों का भी उन्मूलन हो जायेगा । जैसे–

(१) कुछ विद्वानों का भाषण तथा शास्त्रार्थादि के समय यह प्रयास रहता है कि वे अपने सिद्धान्तों की पुष्टि अनार्ष तथा पौराणिक साहित्य से करते हैं । उन का कथन यह है कि इस से उन ग्रन्थों के मानने वालों पर विशेष प्रभाव पड़ता है । किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि जिन ग्रन्थों के प्रमाण आप दे रहे हैं, दूसरे विपक्षी उन्हीं पुस्तकों से आप के पक्ष का खण्डन भी करेंगे, तब

क्या उत्तर दे पाओगे ? अत:–

"प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥"

अर्थात् कीचड़ लग जायेगा तो धो लेंगे, ऐसा सोचकर कीचड़ से न बचना बुद्धिमत्ता नहीं । विपक्षी विरोध करेंगे, तब वेदादि के प्रमाणों से समाधान कर देंगे, इस से अच्छा यही है कि कीचड़ के समान अथवा विषसम्पृक्त अन्न के समान अप्रामाणिक ग्रन्थों को छोड़ना ही श्रेयस्कर है । इस प्रमाणसूची से स्पष्ट हो जायेगा कि महर्षि ने अपने सर्वतन्त्र सिद्धान्तों की पुष्टि सर्वत्र वैदिक तथा आर्ष प्रमाणों से ही की है । तभी वे वैदिक सिद्धान्तों की सुरक्षा कर सके हैं ।

(२) महर्षि–दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में वैदिक प्रमाणों के पते तो सर्वत्र दिए हैं, किन्तु वेद से भिन्न ग्रन्थों के पते कर्मकाण्ड के विधिभाग में सर्वत्र नहीं दिए हैं, किन्तु आधुनिक प्रकाशकों ने यह प्रयत्न किया है कि प्राय: सभी प्रमाणों के पूरे पते महर्षि के ग्रन्थों में दिए जाएं । जिन से पाठकों को प्रमाण देखने में सरलता हो सके । किन्तु

"उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथाऽपायमपि चिन्तयेत् ।"

बुद्धिमान् व्यक्ति का यह परम कर्तव्य है कि उपाय सोचने के साथ–साथ उस उपाय से होने वाले अपाय को भी सोच लेवे । सोचा तो यह था कि पाठकों को प्रमाण देखने में सरलता हो जायेगी, किन्तु उस पते पर वह पाठ न पाकर अथवा पाठभेद देखकर पाठकों के मन में महर्षि के प्रति अनास्था ही पैदा होती है । और विशेषरूप से यह वहां भ्रान्ति होगी, जहां कर्मकाण्ड में विधि–विधानों का वर्णन किया गया है । संस्कारविधि में विशेष रूप में । किन्तु हम यह स्मरण कराना चाहते हैं कि कर्मकाण्ड में विधि–वाक्यों में ऊहा भी की जाती है और ऊहित–पाठों में पाठ–भेद होना स्वाभाविक ही है । कर्मकाण्ड में ऊहा करने के लिए महर्षि–पतञ्जलि लिखते हैं–**ऊहः खल्वपि–**

न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः ।
ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः ॥ (महाभाष्ये नवाह्निके)

अर्थात् याज्ञिक विधि–विधानों के वैदिक साहित्यों में सब लिङ्गों तथा सब विभक्तियों में मन्त्रों का पाठ नहीं है । यह तो याज्ञिक पुरुष को कर्म के अनुसार उनमें विपरिणाम=लिङ्ग, विभक्ति आदि का परिवर्तन कर लेना चाहिए ।

महर्षि–दयानन्द ने इसी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के अनुसार अपने ग्रन्थों में ऊहित पाठ दिये हैं।

प्रथम प्रकाशित प्रमाण–सूची समस्त ग्रन्थों की इकट्ठी छपी थी । अब यह प्रमाणसूची प्रत्येक ग्रन्थ की पृथक्–पृथक् अकारादि क्रम से बनाई गई है । और इस में प्रमाणों तथा साम्प्रदायिक प्रमाणों की सूची भिन्न–भिन्न करके अकारादि के क्रम से बनायी गयी है । साम्प्रदायिक प्रमाणसूची पृथक् बनाने का तात्पर्य यह है कि उन को महर्षि ने प्रमाणरूप में प्रस्तुत नहीं किया किन्तु उन वचनों की समीक्षा की है । अत: वे प्रमाण नहीं हैं । इस से पाठकों को अधिक सुविधा होगी । इस प्रमाण–सूची के बनाने में विद्वान् बन्धुओं''''''ने हमें जो परिश्रम तथा सहयोग किया है, तदर्थ हम उन का हृदय से धन्यवाद करते हैं । आशा है कि विद्वान् पाठक इन से पूर्णतया लाभान्वित होंगे और हमारे इन परार्थ–प्रयासों का हृदय से स्वागत करेंगे ।

राजवीर शास्त्री

दिनाङ्क ८।९।१९७८ भूपेन्द्रपुरी, (मोदीनगर) उ० प्र०

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की प्रमाण-सूची

अइउण् २२
अग्न आ० ११७
अग्नय० ८८
अग्नये० २१७
अग्नयो वै० ८८
अग्निर्देवता० ४७
अग्निवायु० १५
अग्निमीळे० ५६
अग्निहोत्रं० ८८
अग्निर्ज्योति० २०२
अग्निर्वर्चो० २०२
अग्निष्वात्ता० २१२, २१४
अग्निं दूतं० ४८, २००
अग्निः पूर्वेभिः० ५९
अग्निषोमा० २१७
अग्नेर्वै धूमो० ३८
अग्ने व्रतपते० ७९
अङ्गिरसो नः० २०९
अङ्गिरा अङ्गारा० ३, ४
अणुः पन्था० १५१
अणोरणीयान्० ५८
अत एव च० २७
अतिष्ठन्तीनां० २३१
अत्र पितरो० २०८
अथ तत्पूर्वकं ४१
अथ यदिदम० १४५
अथ यदेवा० २०५
अथातो दैवतं० ४७
अथातो द्यु० १५५
अथार्षेयं० २०५
अथ योऽयं० २३२
अद्भ्यः० १०३
अद्भ्यो नमः० २१८
अदितिर्द्यौ० २९७
अदेवृघ्न्य० १७५
अधर्मचर्य्यया० २५२
अध्यापयामास० १५
अनसन्तान्० २९१
अनारम्भणे० १५७
अनित्याशुचि० १४८
अनुभूत० १३३
अनुमत्यै० २१८
अन्नात्परि० २४७
अन्नाद्येन० १२९
अन्येभ्यो० २८८
अपरिग्रह० १४०
अप वा एतेभ्यः० २६२
अपादहस्तो० २३०
अभावप्रत्यया० १३३
अभावं बादरि० १५०
अभि त्वा शूर० ५७
अम्भो अमो० १३०
अभ्यास० १३३
अरित्रं वां० १६०
अर्थगत्य० २८५
अर्थवदधा० २८५
अवाङ्मुखः० १६७
अविद्या० १४८
अशब्दम्० ५८
अश्वो यत० २६३
अष्टाविंशानि० १२९
असुनीते १६५
असुरानभि० २३२
अस्तेयप्रति० १४०
अहन्नहिं० २२९
अहन् वृत्रं० २३०
अहिरिति० २३०
अहिꣳसन्० २३६
अहिंसाप्रति० १४०
आ कृष्णेन० ११४
आङ्याज० २९२
आचार्य्य० १९१
आचार्य्यः कस्मा० १९३
आज्जसेर० २९२
आत ऐ २८९
आत्मा वा० ६६
आत्मेत्येव० ५३
आदित्यो० १३२
आधत्त पितरो० २०८
आ नो नावा० १६१
आपो ज्योति० २०४
आपो ह वा० ६६
आप्तोपदेशः० १४
आप्तः खलु० १४
आयं गौः० १०९
आयन्तु नः० २०६
आयुश्च रूपम्० ८२
आयुर्यज्ञेन० १२४
आ यो धर्माणि० १६६
आहं पितॄन्० २११
आहारा विविधा० १६७
इकोऽसवर्णे० २९१
इतश्च लोपः० २८९
इतरेषु० १६
इदं विष्णुः० ७, २३७
इदं वा अग्रे० ६६
इदं पितृभ्यो० २१४
इन्दव० १६०
इन्द्रं मित्रम्० ५६, २५९
इन्द्रः कश्चित्० २२८
इन्द्रस्य नु० २२९
इन्द्रशत्रु० २३०

इन्द्रागच्छ० २२७
इन्द्रियार्थ० ४१
इन्द्रो जयाति० १८१
इमं देवा० १८१, २४५
इमं वीरम्० १८३
इममेवाग्निं० २५९
इमं मे गङ्गे० २३८
इमां त्वमिन्द्र० १७५
इयं विसृष्टि:० ५८, ९२
इयं वेदि:० ११८
इयं नारी० १७३
इयं समित्० १९१
इयाडियाज्० २९२
इषवो वै० १९०
इषे त्वोर्जे० ६६, ६८
इषे पिन्वस्व० १२२
इहैव स्तं० १७१
ईश्वरप्रणि० १३३
ईश्वरे तोसुन्० २९०
ईषा अक्षा० २९१
उणादयो० २९४
उच्चैरुदात्त: २८३
उत त्व:० २५५
उत त्वं० २५५
उद्बुध्य० २४५
उत्सक्थ्या० २७०
उदीर्ष्व० १७३
उदीरता० २०९
उन्देरिच्च० १६०
उपसंवादा० २८८
उपहूता० १९४, २१२
उभयसंज्ञा० २८५
उरु: पृथु:० १३०
उशन्त:० २१५
ऊर्गिति० २३३
ऊर्जं वहन्ती० २०६
ऊर्ध्वमेनां० २६७
ऋग्भिस्तु० २७४
ऋच स्तुतौ २७४
ऋचो अक्षरे० २५४
ऋतं च स्वा० ८४
ऋतं तप:० ८७
एका च मे० ११७
एकैकवर्ण० २३
एको देव:० १४७
एको वशी० ५८
एकं दश० १७
एतावानस्य० ९६
एता वै देवता० ६२
एवं वा अरे० ७
एष एवेन्द्रो० २२७
ओजश्च तेज० ८१
ओजो वा० १८४
ओमिति० ३३
ओमित्येत० ३५
ओ३म् खं ब्रह्म० ३३
कतम आदित्या० ५२
कतम इन्द्र:० ५२
कतमे ते० ५२
कतमे रुद्रा० ५२
कतमे वसव० ५२
कया नश्चित्र २४७
कर्मणां० १३०
कर्मसम्पत्ति:० ४७
कश्यपो वै० ६४, २३५
कश्चिद्देह० २२७
कामस्तद० ९२
काम: सङ्कल्पो० ७६
कायेन्द्रिय० १४०
कासीत्प्रमा० ११८
किञ्च धारणा० १४३
किञ्च सत्त्व० १४०
किंस्विदा० ५७
कुह स्वित्० १७३
कुह्वै स्वाहा० २१८
कृत्यल्युटो० २८८
कृत्यार्थे तवै० २९०
कृन्मेजन्त:० २९०
कृपो रो ल: २९३
कृष्णं नियानं० १६१
केतुं कृण्वन्० २४८
केशी केशा० ५९
केषां शब्दानाम्० ६८
को अद्धा वेद० ९२
कोऽसि कतमो० १७८
क: स्विदेकाकी० ११५
क्याच्छन्दसि० २८७
क्लेशकर्म० १३५
क्वसुश्च २८७
क्षत्रं वाश्वो २६२
क्षत्रस्यैतत्० २६२
क्षत्रस्य योनि:० १७७
क्षत्रं वै स्विष्ट० १८८
क्षत्रायैव० २६२
गणानां त्वा० २६१
गय इति० २३६
गृभ्णामि ते० १७१
गृहा मा बिभीत० १९४
गौरादित्यो० १०९
गौरिति० १०९
घसिभसो० २९३
चक्षुर्वै जम० ६४
चतस्रश्च० ११७
चतुर्थ्यर्थे० २८६
चतुर्थ्यर्थे बहु० ६९
चत्वार्य्याहु:० १६
चन्देरादे:० ६२
चन्द्रमा मनसो० १००

चातुर्वर्ण्यं० ४५
चोदना लक्षणो० ९१
छन्दसि गत्य० २८८
छन्दसि पर० २८५
छन्दसि लिट्० २८७
छन्दसि लुङ्० ६३,१००,२८८
छन्दसि शायज० २८७
छन्दसीर: २९३
छन्दांसि ६२
जनिष्ठा उग्र:० १८४
जमदग्नय:० २६२
जार आ भग:० २२७
ज्योतिरिन्द्रा० ५९
ज्योतिरेवायं० ५९
ज्योतिर्वै हिरण्यं० ५९, २६२
ज्योति: सूर्य्य:० २०२
तं चेद् ब्रूयु:० १४५
ते चेद्० १४५
तं यज्ञं बर्हि० ९९
तं सभा च० १८३
तज्जपस्तदर्थ० १३६
तत: प्रत्यक्० १३६
तत: क्षीयते० १४३
तत: परमाव० १४३
ततो विराड० ९७
ततो द्वन्द्वान० १४२
तत्तु समन्व० ३५
तत्प्रकृतीतर० ६१
तत्प्रतिषेधा० १३७
तथा युञ्जन्ति० १३२
तथाश्विनौ १५५
तद्वचनादा० २५
तद्वै युगसह० १६
तद्विष्णो:० ३४, ७१
तदाहु: यद० ५२
तदेवाग्नि:० ५६
तदेजति० ५७
तदेवार्थ० १४४
तदभावात्० १४८
तदत्यन्त० १४८
तदस्या० २९१
तदा द्रष्टु:० १३३
तदा विवेक० १४८
तद्वैराग्याद्० १४८
तद्यस्यैवं० २२०
तद्येऽनादि० ४८
तप इति तपो० ८८
तपसा देवा० ८८
तप: श्रद्धे० १४५
तम आसीत्० ९२
तमिदं० ७२
तमिन्द्रो० २३१
तमीशानं० ५७, ७१
तमेतं वेद० १९७
तत्रापरा० ३३
तत्र प्रत्यक्षा० १३३
तत्र निरति० १३५
तत्र प्रत्ययै० १४४
तत्र पिता० २२५
तत्र स्थिर० १४२
तत्राहिंसा० १३९
तस्माद्यज्ञा० ७, ९८
तस्माद्वा० ३९
तस्मात्० ९८
तस्मादश्वा० ९८
तस्मादेतत्० २३२
तस्मात्सर्वै० २५९
तस्मिन्सति० १४२
तस्मिञ्छुक्ल० १५१
तस्य वाचक:० ३३, १३६
तां योगमिति० १५०
ता उभौ चतुर:० २६४
तानहमनु० १८४
तास्त्रिविधा० २८१
तिङां च तिङो० २९२
तिरश्चीनो० ९२
तिस्र: क्षप:० १५५
तिस्र एव० २३१
तीर्थमेव० २३६
तुग्रो ह भुज्युं० १५५
तुमर्थे सेसेन० २९०
तुलामानं० २४३
तेजोऽसि १२०
ते प्राग्धातो: २८५
तेभ्यस्तप्ते० १२
त्रयस्त्रिंशश० ५१
त्रयमेकत्र० १४४
त्रय: प्रवयो० १५८
त्रय: स्नातका० २३६
त्रयो धर्मस्कन्धा० १९६
त्रयो लोका:० ५२
त्र्यायुषं० ६४
त्रातारम्० १८०
त्रिपादूर्ध्व० ९६
त्रिर्नो अश्विना० १६०
त्रीणि राजाना० १७७
त्वं सोम पितृभि:० ११०
त्वमिन्द्राधि० १८१
त्वमेको० ४५
त्वमेव० ५५
दम इति० ८८
दमेन दान्ता० ८८
दादेर्धातो:० २९३
दाधा घ्व० २३
दानमिति० ८८
दानं यज्ञानां० ८८
दिवाचरेभ्य० २१८
दिव्यो ह्यमूर्त्त:० ५८

दु:खजन्म० १४८
दु:खदौर्० १३७
दु:खानुशयी० १४८
दुष्ट: शब्द:० २५३
दृग्दर्शन० १४८
दृते दृꣳह० ७८
दृष्ट्वा रूपे० ७७
देवर: कस्माद्० १७३
देवस्य त्वा० १७८
देवता० २४३
देवताद्वन्द्वे० २९१
देवा: पितरो० १०७
देवात्तल्० ५०
देवासुरा:० ६५
देवानाम्० २३२
देवाश्च वा० २३२
देवो दानात्० ४९
देहि मे० १९४
देशबन्ध० १४४
दैविकानां० १६
दैवेन चक्षुषा० १५१
द्यौर्मे पिता० २२५
द्यौ: शान्ति० ४
द्रष्टृप्रवक्तृ० २५
द्रव्यसंस्कार० ३५
द्रव्याणां० ३५
द्वयं वा इदं० २०५, २३३
द्वया ह प्राजा० २३३
द्वादश प्रधय:० १६१
द्वादशाहवत्० १५०
द्वितीया० ६९
द्विविधा० १२९
द्वे सृती० १६७
धन्वन्तरये० २१८
धर्म इति० ८८
धर्मचर्य्यया० २५२
धर्मो विश्वस्य० ८८
धामानि० ५३
धि च २९३
नक्तं चारि० २१८
न चतुष्ट्वं० ४२
न तत्र सूर्य्यो० ४९
न त्वावाँ० ५८
न तस्य प्रतिमा० २४२
न द्वितीयो० ७२
न पञ्चमो० ७२
नमस्ते अस्तु० १२९
नमस्तीर्थ्याय० २३६
न मृत्युरासीत्० ९२
नमो ब्रह्मणे० १८४
नमो व: पितरो० २०८
नराशंसो० ६६
न वेति० २८५
न वै मनुष्य:० २६३
न्यास इति० ८८
नान्त:प्रज्ञं० ५८
नाभ्या आसीत्० १००
नाम च धातुज० २९४
नाविरतो० १४५
नाष्टमो० ७२
नासदासी० ५८, ९२
नास्मै विद्युत्० २३१
निजशक्त्य० २६
नित्यं संज्ञा० २९०
नित्यं छन्दसि० २९०
नित्यस्तु० २४
नित्या: शब्दा० २२
नित्यो नित्या० ५८
निरनुबन्धक० २८७
नैनद्देवा ५०
पयश्च रसश्च० ८३
परीत्य भूतानि० ५७, ७१
पितृभ्य: स्वधा० २१५, २१८
पीत्वा पीत्वा० २२४
पुनन्तु मा देव० २०५, २१७
पुनन्तु मा पितर:० २१५
पुनर्नो असुं० १६५
पुनर्मन:० १६६
पुनर्मैत्वि० १६६
पुनरुत्पत्ति:० १६८
पुराणप्रोक्तेषु० ६९
पुरुषं पुरि शय० ९४
पुरुष: पुरिषाद:० ९४
पुरुष एवेदं० ९५
पुरुषार्थशून्यानां० १४८
पूषेत्यथ० २३७
पूर्वो जातो० १९१
पैद्वपतङ्गाव० १५८
प्रच्छर्दन० १३८
प्रजन इति० ८८
प्रजननं वै० ८८
प्रजापतिर्वै० ५
प्रजापतिश्चर० १०५
प्रजापतिर्ब्रह्मा० २२४
प्रजापतिर्वै सुपर्णो० २२५
प्रजापतिर्वै स्वां० २२५
प्रजापतिर्वै जम० २६२
प्रजापतये० २१८
प्रज्ञानामसु० १३०
प्र तद्वोचेद० ५७
प्रतिक्षत्रे० १८०
प्रतिमानां० २४३
प्रथो वरो० १३०
प्रधानाप्रधानयो० ३५
प्रमाणविपर्य्यय० १३३
प्रवृत्ते भैरवी० २२४
प्रसिद्धसाधर्म्या० ४१
प्राजापत्या० १९८

प्राजापत्यो हा०	८८	भद्रकाल्यै०	२१८	य एते ब्रह्म०	१५१
प्राणस्य प्राणं०	१५१	भवे छन्दसि०	२९०	यकासकौ०	२६५
प्राणा वा ऋषयो०	६२	भावं जैमिनि:०	१५०	यज्जाग्रतो०	१२२
प्राणा देवा:०	२३३	भुवर्वायवे०	२०४	यज्ञो वै विष्णु:	७, १२४
प्राणो वा असु०	२३३	भूभुर्व:स्वर०	२०४	यज्ञोऽपि तस्मै०	३७
प्राणो वै बलं०	२३६	भूमनिन्दा०	२९१	यज्ञ इति यज्ञेन०	८८, ८८
प्रात:प्रातर्गृह०	२००	भूयानरा०	१२९	यज्ञेन यज्ञं०	१०२, १०२
प्रातिपदिक०	२८५	भूरग्नये०	२०४	यतो यत:०	५
बहवो हि०	२८५	मतुवसो०	२९३	यतोऽभ्युदय०	९१
बह्वर्था अपि०	२९२	मद्यं मांसं०	२२४	यत्प्राग्द्वादश०	१६
बर्हिषद:०	२११	मनुष्यनामसु०	१३२	यत्तददृश्य०	३३
बहुनामसु०	१३१	मन्त्रा मनना०	४९	यत्परममव०	५, १०७
बहुलं छन्दसि०	२८७, २९२, २९३	मन्त्रायुर्वेद०	२५	यत्पुरुषं०	९९
		मन्त्रे घस०	६३	यत्पुरुषेण०	१०१
बाधनालक्षणं०	१४८	मन्वन्तरा०	१६	यत्र लोकांश्च	२४८
बाह्याभ्य०	१४२	मयीदमिन्द्र०	१२०	यत्र ब्रह्म च०	१७७
बाहुलकं प्रकृते:०	२९४	मरुद्भ्यो०	२१८	यथेमां वाचं०	२५०
बाहू मे बलं०	१८०	मरीचिपुत्र:०	२३६	यद् ग्रामे यद०	१९४
बाहू वै मित्रा०	१९०	महत्ब्रध्न:०	१३२	यद्वाचान०	२४३
बिभर्त्ति सर्व०	४५	महद्यक्षं०	७२	यदस्या०	२६७
बृहत्पृष्ठं०	१८४	महाधन:	१८८	यदन्तराप:०	१५१
बृहस्पते०	२४६	मातरमपि०	२२४	यद्धरिणो०	२६९
ब्रह्म च क्षत्रं०	८२	माता च ते०	२६६	यदा ते हर्य्य०	११२
ब्रह्मचर्यप्रति०	१४०	मातृदेवो०	५५	यदा ते मारुती०	११२
ब्रह्मचर्येण०	१९२	मातृयोनिं०	२२४	यदा सूर्य्यममुं	११३
ब्रह्मचर्य्येण तपसा०	१९२	मानसमिति०	८८	यदा पञ्चाव०	१५०
ब्रह्मचार्य्येति	१९२	मानसं वै०	८८	यदा सर्वे प्रमु०	१५०
ब्रह्मचारी जनयन्०	१९२	महाभाग्यात्०	५१	यदा सर्वे प्रभि०	१५०
ब्रह्म वै ब्राह्मण:०	६९, १८८	मुहूर्त्तानां०	२४३	यदिदं किञ्च०	२३६
ब्रह्म वै रथन्तरं०	१८४	मृतश्चाहं०	१६८	यदेतत् परि०	१६
ब्रह्म सꣳस्थ:०	१९७	मृत्यो: स मृत्यु०	१५१	यदेवेह तदु०	५८
ब्रह्मपतये०	२१८	मैत्रीकरुणा०	१३८	यद्देवासो०	२६८
ब्रह्मप्राजा०	२९१	यं यं लोकम्०	१९८	यमनियम०	१३८
ब्रह्म हि ब्राह्मण:०	१९०	य: सर्वज्ञ:०	५८	यमश्विना०	१५८
ब्राह्मस्य तु०	१६	य आत्मदा०	४	यशो वै हिरण्यम्	५९
ब्राह्मणोऽस्य०	१००	य इमा विश्वा०	५७	यस्मादृचो०	७

यस्मान्न जात० ३५
यस्मात्परं० ९४
यस्य भूमि:० ३
यस्य वात:० ३
यस्य सूर्य:० ३
यस्य त्रय:० ५२
यस्मिन् भूमि:० ५८
यस्मिन्नृच:० ५
या गौर्वर्त्तनिं० ११०
यां मेधां० १२०
युक्तेन मनसा० १२६
युक्त्वाय सविता० १२६
युजे वां ब्रह्म० १२६
युञ्जते मन० १२६
युञ्जन्ति० १३२
युञ्जान:० १२६
युद्धं वै राज० १८८
युनक्त सीरा० १२८
युवं पेदवे० १६३
ये के चास्मत्० ८५
ये त्रिंशति० ५१
ये यज्ञेन० १५३
येषामध्ये० १९४
ये समाना:० २०९
ये अग्निष्वात्ता० २१३
ये चेह पितरो० २१४
ये न: पूर्वे० २११
योगश्चित्त० १३३
योगाङ्गानु० १३८
यो देवेभ्य० १०५
यो भूतं च० ३
यो वै ब्रह्माणं० १५
यो वै भूमा० ५८
यो वाचं श्रुत० २७६
रथो रंहते० ११४
राजन्य एव० १८८
रात्रिरादित्य० २२७
राष्ट्रमश्व० २६२
राष्ट्रं वा अश्व: १८८
राष्ट्रं वा अश्वमेध: १८८
रुचं ब्राह्मं० १०५
रेत: सोम:० २२७
लक्ष्मीर्लाभाद्वा० १०६
लण् २७९
लिङर्थे लेट् २८८
लिट: कानज्वा २८७
लेटोऽडाटौ २८९
लोका रजांसि ११४
वज्री वज्र:० २२९
वनस्पति० २१८
वर्णो वृणोते:० १९०
वाक्यविभाग० ६७
वाचो नामसु० १३०
वाजश्च मे० १२३
वा शरि २९३
वा षपूर्वस्य० ६३
वास्तुपतये० २१८
विद्वाꣳसो हि० ६४,२०५,२३३
विध्यर्थवादा० ६७
विधिर्विधायक: ६७
विधिविहितस्य० ६८
विपर्य्ययो० १३३
वि ये भ्राजन्ते० १६०
विरज: पर० १५१
विश्वतश्चक्षु:० ५७
विश्वानि० २, ३००
विश्वेभ्यो० २१७, २१८
वृत्तय: पञ्च० १३३
वृत्ति सारूप्य० १३३
वृत्र इति० २३०
वृत्रो ह वा० २३१
वृद्धिरादैच् २८५
वृन्द: खर्वो० १७
वेदमनूच्य० ८५
वेदाहमेतं० १०४
वैदिका लौकिकाश्च० २२
वैतोऽन्यत्र० २८९
वैश्वदेवस्य० २१७
व्यत्ययो बहु० १५६, २८७
व्यस्तभ्नात्० ११३
व्याख्यानतो० २७९
व्याधिस्त्यान० १३७
व्रतेन दीक्षा० ८०
शकि णमुल्० २९०
शब्द ऐतिह्य० १४
शब्द ऐतिह्यान० ४२
शब्दज्ञानानु० १३३
शम इत्यरण्ये० ८८
शमेन शान्ता० ८८
शायच्छन्दसि० २८७
शासद्वह्नि० २२६
शास्त्रयोनि० २६
शिरो मे श्री: १७८
शुनां च पतितानां० २१९
शूद्रो ब्राह्मण० २५१
शेश्छन्दसि० २९१
शौचसन्तोष० १४०
शौचात्स्वाङ्ग० १४०
श्रमेण तपसा० ८०
श्रियै नम:० २१८
श्रीश्च ते लक्ष्मी० १०६
श्रीर्वै राष्ट्रम् १०६
श्रीर्वै सोम: १०६
श्रीर्हि पशव: १०६
श्रुष्टीति क्षिप्र० १२९
श्रोत्रोपलब्धि:० २२
षष्ठ्यर्थे चतु० २८६
सं गच्छध्वं० ७४

संज्ञाछन्दसो:०	२९३	समानार्था०	६९	सुप्तिङुपग्रह०	१५६, २८७
संज्ञासु धातु०	२९४	समानतीर्थे०	२३६	सुमित्रिया०	१६४
सन्तोषादनु०	१४०	समानी व०	७६	सुपां सुलुक्०	२९२
संवत्सरस्य०	२४३	समानो मन्त्र:०	७५	सूर्य्यरश्मि०	१०९, २२७
स एष पूर्वेषा०	२६, १३६	समाधिसिद्धि०	१४०	सूर्य्य एकाकी०	११५
स एतेनै०	१८६	साम्राज्यं वै साम०	१८८	सूर्य्यो ज्योति०	२०२
स ऐक्षत०	२३२	समिधाग्निं०	२००	सूर्य्यो वर्चो०	२०२
सजूर्देवेन०	२०४	स यत्कूर्मो०	२३५	सोम: प्रथमो०	१७५
स तपोऽत०	३९	स उत्तमस्य०	२८९	सोमाय०	२१७
सत्यं ज्ञानं०	५८	स यदस्मै०	२३२	सोमेनादित्या०	११५
सत्यं परं०	८८	सर्वधातुभ्य:०	६२	सोऽर्चञ्छ्राम्यं०	२३२
सत्यमेव०	७९	सर्वं वै सहस्रं०	१७, ९४	सोऽवेत् पाप्मान०	२३२
सत्यमेव जय०	८३	सर्वं वै पूर्णं०	२०४	स्थाणुरयं०	२५४
सत्येनावृता०	८१	सर्वात्मभूत०	२१८	स्थानिवत्०	२८५
सत्येन लभ्य:०	९०	सर्वे वेदा: क्रिया०	२५९	स्तुतिर्निन्दा०	६७
सत्येन वायु०	८८	सर्वे वेदा यत्०	३३	स्थिरा व: सन्तु०	१२२, १८३
सत्येनोत्तभि०	११५	सर्वे सर्वपदा०	२३	स्वधया परि०	८१
सत्यप्रतिष्ठा०	१४०	सर्वे अस्मिन्०	७२	स्वयमेनम्०	२२०
सत्त्वपुरुषयो:०	१४८	सह द्यावापृथिवीभ्यां०	२१८	स्वयं राजन्त०	२८३
स तु बाह्या०	१४२	सह नाववतु०	१	स्वरादित्यो भ०	१०९
सदकारण०	३०	स होवाच०	५२	स्वरादित्याय०	२०४
सदेव सोम्य०	६५	स होवाच एतत्०	१५३	स्वरसवाही०	१४८, १६८
स नो बन्धु:०	५७, १५३	सहस्रस्य०	१७	स्वरा: षड्ज०	२७२
सन्यङो:०	२९१	सहस्रशीर्षा०	९४	स्वविषया०	१४३
स न: पितेव०	२९६	सानुगाय०	२१८	स्वाध्यायात्०	१३६, १४०
स पर्य्यगात्०	२७, ५७, २४२	सायं सायं०	२००	स्वाहाकृतय:०	१२१
सप्तास्यासन्०	१०१	सा हैषा गयां०	२३६	स्विष्टकृते०	२१८
सप्रजापतिका०	१८६	सितासितं०	२३९	हयवरट्	२३५
स बृहतीं दिश०	६५	सिब्बहुलं०	२८७	हलश्च	६२
स ब्रूयाद्या०	१४५	सीरा: युञ्जन्ति०	१२८	हिरण्यगर्भ: सम०	५७,५९,६३
स ब्रूयान्ना०	१४५	सुखानुशयी०	१४८	ह्रग्रहोश्छन्दसि	२९३
सभ्य सभां०	१८३				

इति प्रमाण-सूची ॥

॥ ओ३म् ॥

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-विषय-सूचीपत्रम्

१. ईश्वरविषयः १-६
२. वेदोत्पत्तिविषयः ७-२०
३. वेदानां नित्यत्वविचारवि० २१-३२
४. वेदविषयविचारः ३३-६३

अस्यावयवभूतविषयाः

५. विज्ञानकाण्डवि० ३३-३६
६. कर्मकाण्डे मुख्यतया यज्ञवि० ३६-४७
७. देवताविषयः ४७-५६
८. मोक्षमूलरविषयकखण्डनविषयः ५६-६३
९. वेदसंज्ञाविचारवि० ६४-७०
१०. ब्रह्मविद्यावि० ७१-७३
११. वेदोक्तधर्मवि० ७४-९१
१२. सृष्टिविद्यावि० ९२-१०८
१३. सहस्रशीर्षेत्यारभ्य पुरुषसूक्त-व्याख्यावि० ९४-१०६
१४. पृथिव्यादिलोकभ्रमणवि० १०९-१११
१५. आकर्षणानुकर्षणविषयः ११२-११४
१६. प्रकाश्यप्रकाशकवि० ११५-११६
१७. गणितविद्यावि० ११७-११९
१८. ईश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणो-पासनाविद्याविषयः १२०-१२५
१९. उपासनाविषयः १२६-१४७
२०. मुक्तिविषयः १४८-१५४
२१. नौविमानादिविद्यावि० १५५-१६२
२२. तारविद्यावि० १६३
२३. वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः १६४
२४. पुनर्जन्मविषयः १६५-१७०
२५. विवाहवि० १७१-१७२
२६. नियोगवि० १७३-१७६
२७. राजप्रजाधर्मवि० १७७-१८९
२८. वर्णाश्रमविषयः १९०-१९९
२९. ब्रह्मचर्याश्रमवि० १९१
३०. गृहाश्रमविषयः १९४
३१. वानप्रस्थाश्रमवि० १९६
३२. संन्यासाश्रमवि० १९७
३३. पञ्चमहायज्ञविषयः २००-२२०
३४. अग्निहोत्रविषयः २००
३५. पितृयज्ञवि० २०६
३६. बलिवैश्वदेववि० २१७
३७. अतिथियज्ञविषयः २२०
३८. ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यवि० २२१-२४९
३९. उत्तमनिकृष्टग्रन्थगणनावि० २२२,२२५
४०. प्रजापतिदुहित्रोः कथावि० २२५-२२७
४१. गोतमाहल्ययोः कथावि० २२७-२२८
४२. इन्द्रवृत्रासुरकथावि० २२८-२३२
४३. देवासुरसंग्रामकथावि० २३२-२३५
४४. कश्यपगयादितीर्थकथावि० २३५-२४२
४५. मूर्तिपूजानिषेधवि० २४२-२४५
४६. नवग्रहमन्त्रार्थवि० २४५-२४९
४७. अधिकारानधिकारवि० २५०-२५२
४८. पठन-पाठनवि० २५३-२५८
४९. भाष्यकरणशङ्कासमाधानवि० २५९-२७१
सायणाचार्यभाष्यखण्डन २५९-२६०
५०. महीधरकृतभाष्यखण्डन २५९-२६१
सत्यकथयोर्वर्णनवि० २६१-२७१
५१. प्रतिज्ञाविषयः २७२-२७३
५२. प्रश्नोत्तरविषयः २७४-२८०
५३. वैदिकप्रयोगविषयः २८१-२८२
५४. स्वरव्यवस्थाविषयः २८३-२८४
५५. व्याकरणनियमविषयः २८५-२९५
५६. अलङ्कारभेदविषयः० २९६-२९७
५७. ग्रन्थसङ्केतविषयः० २९८-३००

ओ३म्

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ओ३म् स॒ह ना॑ववतु स॒ह नौ॑ भुनक्तु । स॒ह वी॒र्यं॑ करवावहै ।
ते॒ज॒स्विना॒वधी॑तमस्तु । मा वि॑द्विषा॒वहै॑ ॥१॥
ओ३म् शान्ति॒ः शान्ति॒ः शान्ति॑ः ॥

तैत्तिरीय-आरण्यके । नवमप्रपाठके । प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादिविश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं, विद्या यस्य सनातनी निगमभृद् वैधर्म्यविध्वंसिनी।
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा, तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते॥१॥
कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥२॥
दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः, सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥३॥
मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः । ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥४॥
संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम् । मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ् मया ॥५॥
आर्य्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी । तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥६॥
येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः । दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥७॥
सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥८॥

भाषार्थ—(सह नाव०) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें । (सह नौ भुनक्तु०) और हम सब लोग परमप्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्तिराज्य आदि सामग्री से आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें । (सह वीर्यं०) हे कृपानिधे ! आपके सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें । (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय सब विद्या के देने वाले परमेश्वर ! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, (मा विद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र होके सदा वर्तें ।

(ओं शान्तिः०) हे भगवन् ! आप की करुणा से हम लोगों के तीन ताप—एक 'आध्यात्मिक' जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा 'आधिभौतिक' जो दूसरे प्राणियों से होता है और तीसरा 'आधिदैविक' जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये, जिस से हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें । यही आप से चाहते हैं सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये ॥१॥

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है, जिसकी वेद विद्या सनातन है, उस को अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूं ।।१।।

(कालरा०) विक्रम के संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है ।।२।।

(दयाया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिन का नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है ।।३।।

(मनुष्ये०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिए इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूं ।।४।।

(संस्कृतप्रा०) सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है—एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत। इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूं ।।५।।

(आर्य्याणां०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से लेके व्यास पर्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं उन की जो व्याख्यारीति है उस से युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जायगा ।।६।।

(येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिस से वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायेंगे ।।७।।

(सत्यार्थश्च०) और इस वेदभाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिए यह प्रयत्न मैं करता हूं, सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो, यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ।।८।।

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ।।१।।

यजुर्वेद । अध्याये ३० । मन्त्रः ३।।

भाष्यम्—हे सच्चिदानन्तस्वरूप ! हे परमकारुणिक ! हे अनन्तविद्य ! हे विद्या-विज्ञानप्रद ! (देव ! हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक ! हे सर्वानन्दप्रद ! (सवितः) हे सकलजगदुत्पादक ! (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान् दुष्टगुणांश्च (परासुव) दूरे गमय । (यद्भद्रं) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्याप्राप्त्याऽ-भ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) अस्मभ्यं (आसुव) आ समन्तादुत्पादय कृपया प्रापय ।

अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादिभद्रमस्ति तत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन्! नोऽस्मभ्यं प्रापय, भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि । तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत् । अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्यो३म् ।।

भाषार्थ—हे सत्यस्वरूप ! हे विज्ञानमय ! हे सदानन्दस्वरूप ! हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त ! हे परमकृपालो ! हे अनन्तविद्यामय ! हे विज्ञानविद्याप्रद ! (देव) हे परमेश्वर ! आप सूर्यादि सब जगत्

का और विद्या का प्रकाश करने वाले हैं तथा सब आनन्द को देने वाले हैं, (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन् ! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हो, (नः) हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उनको और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परासुव) दूर कर दीजिये, अर्थात् हम से उन को और हम को उन से सदा दूर रखिये, (यद्भद्रं) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उस को हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये । **सो सुख दो प्रकार का है—एक जो सत्य विद्या की प्राप्ति से अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ति राज्य, इष्ट मित्र, धन, पुत्र, स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना, और दूसरा जो कि निःश्रेयस सुख है कि जिस को मोक्ष कहते हैं और जिस में ये दोनों सुख हैं उसी को भद्र कहते हैं** (तन्न आ सुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये ।

और आपकी कृपा के सहाय से सब विघ्न हम से दूर रहें कि जिससे इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा होय । इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे । इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हम को दीजिए, जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्य विद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं उनके यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें । सो यह वेदभाष्य आपकी कृपा से सम्पूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करने वाला हो और, आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धा सहित अत्यन्त उत्साह हो, जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो । इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहें, जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें ।।१।।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वऽर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।१।।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।२।।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।३।।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।४।।

अथर्ववेदसंहितायाम् । काण्डे १० । प्रपाठके २३ । अनुवाके ४। मं० १।३२।३३।३४।।

भाष्यम्—(यो भूतं च०) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति । (स्वर्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः ।।१।।

(यस्य भू०) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, (अन्तरिक्षमु०) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ।।२।।

(यस्य सू०) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, योऽग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ।।३।।

(यस्य वातः०) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, (अङ्गिरसः) 'अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चना इति' निरुक्ते अ० ३। खं० १७।।

प्रकाशिकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः । यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहार-साधिकाश्चक्रे, तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोऽस्तु ।।४।।

भाषार्थ–(यो भूतं च०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है, (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्तमान है, (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होने वाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है, (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता, रचता, पालन, लय करता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है । (स्वर्यस्य च केवलं) जिस का सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सब से बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उसको अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो। जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ।।१।।

(यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है तथा जिस ने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, (दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करने वाले पदार्थों को सब के ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के उस में व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है, (तस्मै) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ।।२।।

(यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये नये रचता है, (अग्निं यश्चक्र आस्यम्) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है, (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ।।३।।

(यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया है, (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करने वाली किरण हैं वे चक्षु की नाईं जिसने की हैं, अर्थात् उन से ही रूप ग्रहण होता है ।

(दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करने वाली बनाईं हैं, ऐसा जो अनन्तविद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है, उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ।।४।।

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः ।

यस्य॑ च्छा॒यामृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ।।५।। यजु० अ० २५।। मं० १३।।

द्यौः शान्ति॑र॒न्तरि॑क्षः॒ शान्तिः॑ पृथि॒वी शान्ति॒रापः॒ शान्ति॒रोष॑धयः॒ शान्तिः॑ ।

वन॒स्पत॑यः॒ शान्ति॒र्विश्वे॑ दे॒वाः शान्ति॒र्ब्रह्म॒ शान्तिः॒ सर्वं॒ शान्तिः॒ शान्ति॑रे॒व

शान्तिः॒ सा मा॒ शान्ति॑रेधि ।।६।।

यतो॑ यतः स॒मीह॑से ततो॑ नो॒ अभ॑यं कुरु ।

शन्नः॑ कुरु प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑ ॥७॥ यजुः अ० ३६ । मं० १७,२२॥

यस्मि॒न्नृचः॒ साम॒ यजूꣳषि॒ यस्मि॒न् प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒राः ।

यस्मिँ॑श्चि॒त्तꣳ सर्व॒मोतं॑ प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥८॥

यजुः अ० ३४। मं० ५॥

भाष्यम्–(य आत्मदाः) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, (बलदाः) यः शरीरेन्द्रिय-प्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, (यस्य०) यं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते, (यस्य च्छाया०) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति, यस्यच्छायाऽ-कृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोऽस्ति, (कस्मै०) तस्मै कस्मै प्रजापतये 'प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेति' । शतपथब्राह्मणे। काण्डे ७ अ० ३॥ सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥५॥

(द्यौः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर ! त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया च द्यौरन्तरिक्षं, पृथिवी जलमोषधयो वनस्पतयो विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसो ब्रह्म वेदः, सर्वं जगच्चास्मदर्थं शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदाऽस्तु । अनुकूलं भवतु नः । येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि। हे भगवन्नेतया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैर्भवान् मां सर्वथा वर्धयतु तथा सर्वं जगच्च ॥६॥

(यतो यतः०) हे परमेश्वर ! यतो यतो देशात्त्वं समीहसे जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि, ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु, यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम । (शन्नः कुरु०) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शं कुरु, धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः सम्पादय ॥७॥

(यस्मिन्नृचः०) हे भगवन् कृपानिधे ! यस्मिन् मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति, यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति, कस्यां क इव ? रथनाभौ अरा इव । (यस्मिँश्च०) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सूत्रे मणिगणवत्प्रोतमस्ति । तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसङ्कल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत । हे सर्वविद्यामय सर्वार्थविन् ! मदुपरि कृपां विधेहि, यथा निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि । यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम । ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान् । एतदर्थं प्रार्थ्यते । अनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु । यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत् ॥८॥

भाषार्थ–(य आत्मदाः०) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देने वाला है, जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति कराने वाला है, जिसकी उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं, और जिस का अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है उसको अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, जिस का आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है और जिस की

अकृपा ही जन्ममरणरूप दु:खों को देने वाली है, अर्थात् ईश्वर और उस का उपदेश जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं उन को नहीं मानना, और जो वेद से विरुद्ध होके अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्त्तता है, उस पर ईश्वर की अकृपा होती है, वही सब दु:खों का कारण है, और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुखों का मूल है, (कस्मै०) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिए सत्य प्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें, जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दु:ख कभी न हो ।।५।।

(द्यौ: शान्ति०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आप की भक्ति और कृपा से ही 'द्यौ:' जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हम को सुखदायक हो तथा आकाश में पृथिवी जल ओषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है वे सब सुख देने वाले हम को सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिस से इस वेद-भाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें । हे भगवन् ! इस सब शान्ति से हम को विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये ।।६।।

(यतो यत:०) हे परमेश्वर ! आप जिस-जिस देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं उस उस देश से भय से रहित करिये, अर्थात् किसी देश से हम को किञ्चित् भी भय न हो, (शन्न: कुरु) वैसे ही सब दिशाओं में जो आप की प्रजा और पशु हैं उन से भी हम को भयरहित करें तथा हम से उनको सुख हो, और उनको भी हम से भय न हो तथा आप की प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं, उन सब से जो धर्म, अर्थ काम और मोक्ष पदार्थ हैं उन को आप के अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों, जिस से मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं, वे सुख से सिद्ध हों ।।७।।

(यस्मिन्नृच:) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋच:) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूँषि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी, ये सब जिस में स्थित होते हैं तथा जिस में मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है, (यस्मिँश्चित्तं०) जिस में सब प्रजा का चित्त जो स्मरण करने की वृत्ति है सो सब गंठी हुई है, जैसे माला के मणिये सूत्र में गंठे हुए होते हैं, और जैसे रथ के पहिए के बीच भाग में अरे लगे होते हैं, कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं, ऐसा जो मेरा मन है, सो आप की कृपा से शुद्ध हो तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्य धर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का सङ्कल्प जो इच्छा है, इससे युक्त सदा हो । जिस मन से हम लोगों को आप के किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो ।

हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर ! हम पर आप कृपा धारण करें जिस से हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें, और सत्य अर्थ सहित वेदभाष्य को सम्पूर्ण बना के आप के बनाये वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है उस को जगत् में सदा के लिए बढ़ावें, और इस भाष्य को देख के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों । इसलिए हम लोग आपकी प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं । इस को आप कृपा से शीघ्र सुनें । जिस से यह जो सब का उपकार करने वाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो ।।

इतीश्वरप्रार्थनाविषय: ।।

अथ वेदोत्पत्तिविषयः

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥१॥ यजुः० अ० ३१। मं० ७॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२॥ अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० २०॥

भाष्यम्–(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्मात् यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात्सर्वपूज्यात्सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांꣳसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् । सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः । यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः। जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम् । तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् । वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । 'यज्ञो वै विष्णुः' श० कां० १। अ० १। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । यजुर्वेदे इति सर्वजगत्कर्त्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते, नान्यत्र । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥१॥

(यस्मादृचो०) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नोऽस्ति, यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः (अपाकषन्) प्रादुर्भूतोऽस्ति, तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः (आङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः, एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन्मुख्योऽस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः। यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोऽस्ति तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः ? अस्योत्तरम्–(स्कम्भं तं०) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति, तस्मात्स्कम्भात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥२॥

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इत्यादि । श० कां० १४। अ० ५।

अस्यायमभिप्रायः । याज्ञवल्क्योऽभिवदति–हे मैत्रेयि ! महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिवेदचतुष्टयं । (निःश्वसितं) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम् । यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः॥

भाषार्थ–प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं । (तस्मात् यज्ञात्स०) सत् जिस का कभी नाश नहीं

होता, चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है, जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देने वाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है, उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें और वेदोक्त रीति से ही चलें । 'जज्ञिरे' और 'अजायत' इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है । वैसे ही 'तस्मात्' इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिए कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं किसी मनुष्य से नहीं । वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर 'छन्दांसि' इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है, उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है । शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'यज्ञ' शब्द से 'विष्णु' का और विष्णु शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है, क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में घटती है अन्यत्र नहीं ।।१।।

(यस्माद‍ृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (आङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं । इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाईं है । (ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है, उसको तुम मुझ से कहो ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि— (स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारणकर्ता परमेश्वर है उसका नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्ता जानो, और यह भी जानो कि उसको छोड़ के मनुष्यों की उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है । क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे ।।२।।

(एवं वा अरेऽस्य) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं, वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि ! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही ऋक् यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आके फिर भीतर को जाता है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है, और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, बीजाङ्कुरवत् ! जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप होके फिर भी बीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है, इससे इसको नित्य ही जानना ।।३।।

अत्र केचिदाहुः—निरवयवात् परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येतेति ?

अत्र ब्रूमः । न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते । कुतः ? मुखप्राणादिसाधन-मन्तरापि तस्य कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् । अन्यच्च, यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेऽपि मन्यताम् । योऽस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्त्तुं गृह्णाति । यथास्मदादीनां, सहायेन विना कार्यं कर्त्तुं, सामर्थ्यं नास्ति; न चैवमीश्वरे । यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तदा

वेदरचने का शङ्कास्ति ? कुतः वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः ।

भाषार्थ—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है, उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

इसका यह उत्तर है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है कि मुख के विना मुख का काम और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है । यह दोष तो हम जीव लोगों में आ सकता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते हैं । क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं ।

और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं । तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिए। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है । जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते वैसा ईश्वर नहीं है । जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वर से सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही ? जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है, वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता ?

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्य-ग्रन्थरचनवत् सामर्थ्यं स्यादिति ?

अत्रोच्यते—ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान्न चान्यथा । नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति । यथेदानीं किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति । तद्यथा—कस्य-चित्सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्य्याद्यावत्तस्य मरणं न स्यात् । यथा तस्य किञ्चिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति । यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति । तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत् । पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा ?

भाषार्थ—प्र०—जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु जैसे व्याकरणादि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है, वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है ?

उ०—नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं, उनको पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है । उसके पढ़ने और ज्ञान के विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़ के, किसी का उपदेश सुन के और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है, अन्यथा कभी नहीं होता । जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रख के उसको अन्न और जल युक्ति से देवे, उसके साथ

भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका मरण न हो तब तक उसको इसी प्रकार से रखे तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं हो सकता तथा जैसे बड़े वन में मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती, फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है ? इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं।

मैवं वाच्यम् । ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति, तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव, पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति ?

एवं प्राप्ते वदामहे—नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम्? कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति ? तस्मात् किमागतम् ? न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति । यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षाऽवश्यं भवति । किञ्च न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत्तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव, पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत् । मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात् । स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च ।

यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि, तदप्यसमञ्जसम् । तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात्; चक्षुर्वत् । यथा चक्षुर्मनःसाहित्येन विना ह्यकिञ्चित्करमस्ति तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति ।

भाषार्थ—प्र०—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रन्थों से उत्तम है, क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता । और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी, तब मनुष्य लोग विद्यापुस्तकों को भी रच लेंगे, पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ?

उ०—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था, क्या उनको स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है ? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है, उसके विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता । जैसे हम लोग वेदों के पढ़ने, विद्वानों की शिक्षा और उन के किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते, वैसे ही सृष्टि के आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थविद्या नहीं होती । इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़े विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता । जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं, वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है । क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था । उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या

के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता है ? क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है । और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती । इसीलिए ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिए वेदों की उत्पत्ति की है ।

और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सो भी अन्यथा है, क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है । **जैसे मन के संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं देख पड़ता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता,** वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वान् की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म, अर्थ, काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता ।

वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् ?

उच्यते–वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति ? अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः । सत्यमेवमेतत् । तावद् वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत । ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा ? अस्ति । सा किमर्थास्ति ? स्वार्था । ईश्वरः परोपकारं न करोति किम्? करोति तेन किम् ? तेनेदमस्ति, विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात् ।

यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात् । तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता सम्पादिता । परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति, पितृवत् । यथा पिता स्वसन्ततिं प्रति सदैव करुणां दधाति, तथेश्वरोऽपि परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे । अन्यथान्धपरम्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात् । यथा कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं कन्दमूलफलतृणादिकं रचितं, स कथं न सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत् ? किञ्च ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्ट-सर्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तत् विद्याप्राप्तसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीति निश्चयः ।

भाषार्थ–प्र०–वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था ?

उ०–मैं तुमसे पूछता हूं कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं जानते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती । परन्तु हम जीव लोगों के लिए ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उसकी हम पर परमकृपा है । जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन है सो आप लोग सुनें । **प्र०**–ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं ? **उ०**–है । **प्र०**–सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है ? **उ०**–अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है । **प्र०**–अच्छा तो मैं आप से पूछता हूं कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं ? **उ०–ईश्वर परोपकारी है । इससे क्या आया ? इससे यह बात आती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिए होती है, क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना ।**

जो परमेश्वर अपनी विद्या का हम लोगों के लिए उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है सो उसका नहीं रहे । इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिए उपदेश

करके सफलता सिद्ध करी है, क्योंकि परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है । हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है । जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है, इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिए किया है । जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिए न करता तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती । उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता । जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिए कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करने वाली, सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिए क्यों न करता ? क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति से होने वाले सुख से हजारहवें अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता । ऐसा सर्वोत्तम विद्या पदार्थ जो वेद है उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता ? इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं ।

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि ?

अत्रोच्यते-अह ह ह ! महतीयं शङ्का भवता कृता, विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठ-लोष्ठादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः, सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं मा शङ्कि । किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः। किं तर्हि ? ज्ञान-मध्ये प्रेरिताः । केषाम् ? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम् । ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति ? मैवं वाच्यं, सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन् । कुतः जडे ज्ञानकार्यासम्भवात् । यत्रार्था-सम्भवोऽस्ति तत्र लक्षणा भवति । तद्यथा कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति । अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते । तथैवात्रापि विज्ञायताम् । विद्याप्रकाशसम्भवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति । अत्र प्रमाणम्-

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥

श० कां० ११। अ० ५ । ब्रा० २ । कं० ३॥

एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः । सत्यमेवमेतत् । परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं, ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते ?

मैवं विज्ञायि । ज्ञानं किंप्रकारकं दत्तम् ? वेदप्रकारकम् । तदीश्वरस्य वा तेषाम्, ईश्वरस्यैव । पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च ? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः । पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति ? निश्चयकरणार्था ।

भाषार्थ-प्र०-वेदों के रचने और वेदपुस्तक लिखने के लिए ईश्वर ने लेखनी, स्याही और दवात आदि साधन कहां से लिये, क्योंकि उस समय कागज आदि पदार्थ तो बने ही न थे ?

उ०-वाह वाह वाह जी ! आपने बड़ी शङ्का करी आपकी बुद्धि की क्या स्तुति करें । अच्छा आपसे मैं पूछता हूं कि हाथ पग आदि अङ्गों तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री साधनों के विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है ? जैसे हाथ आदि अवयवों के विना उसने सब जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है, क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है । इस से ऐसी शङ्का उस में आप को करनी योग्य

नहीं। परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिखके सृष्टि के आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे । **प्र०**—तो किस प्रकार से किये थे ? **उ०**—ज्ञान के बीच में । **प्र०**—किनके ज्ञान में ? **उ०**—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के । **प्र०**—वे तो जड़ पदार्थ हैं ? **उ०**—ऐसा मत कहो, वे सृष्टि के आदि में मनुष्यदेहधारी हुए थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है, और जहां जहां असम्भव होता है वहां वहां लक्षणा होती है । जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मञ्चान पुकारते हैं, इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मञ्चान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं, इसी प्रकार से यहां भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं । इसमें 'तेभ्यः०' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है। उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उन से ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था ।

प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा ?

उ०—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं, क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उनको ज्ञान किस प्रकार का दिया था ? **उ०**—उनको वेदरूप ज्ञान दिया था ? **प्र०**—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूं कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका ? **उ०**—वह ज्ञान ईश्वर का ही है । **प्र०**—फिर आपसे मैं पूछता हूं कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उनके ? **उ०**—जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया। फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी ? **उ०**—निश्चय करने और कराने के लिए।

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती ? न्यायकारी । तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति ?

अत्राह—अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति, किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ् न्यायः प्रकाशितो भवति । कुतः ? न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात् । अत्रैवं वेदितव्यम्—तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्त्तुं योग्योऽस्ति ।

किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम् ?

अत्र ब्रूमः—सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादयस्तेषां कर्म्माणि सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति । एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ।

भाषार्थ—प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती ? **उ०**—न्यायकारी । **प्र०**—जब परमेश्वर न्यायकारी है तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया, क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है ?

उ०—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है । क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल दिया जाय । अब जानना चाहिए कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया ।

प्र०—वे चार पुरुष तो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, उनका पूर्वपुण्य कहां से आया?

उ०—जीव, जीवों के कर्म और स्थूल कार्य जगत् ये तीनों अनादि हैं, जीव और कारणजगत्

स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्यजगत् प्रवाह से अनादि हैं इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे लिखी जायेगी ।

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतम् ?

इयं कुतः शङ्काऽभूत् ? किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति ? अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावत्त्वात् । अतो निर्मूला सा शङ्काऽस्ति ।

चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम् ?

मैवं वाच्यम् ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात् । 'आप्तोपदेशः शब्दः ॥' न्यायशास्त्रे अ० १ । सू० ७ ॥ **इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात् । 'शब्द ऐतिह्यमि' त्यादि च ॥ अस्यैवोपरि 'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथा दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः' इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः । अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य । यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं । नातो विपरीतमिति, अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात् । एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थापत्तेश्चेति ।**

भाषार्थ—प्र०—क्या गायत्र्यादि छन्दों का रचन ईश्वर ने ही किया है ?

उ०—यह शङ्का आपको कहां से हुई ? **प्र०—**मैं तुम से पूछता हूं क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है । **उ०—**ईश्वर को सब ज्ञान है । अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आपकी यह शंका भी निर्मूल है ?

प्र०—चार मुख के ब्रह्मा जी ने वेदों को रचा, ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं ।

उ०—ऐसा मत कहो, क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है । (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उस को शब्दप्रमाण में गिनते हैं, ऐसा न्यायदर्शन में गौतमाचार्य ने लिखा है, तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है, अन्य नहीं । इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है कि—जो साक्षात् सब पदार्थविद्याओं का जाननेवाला कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी है, जिस को पूर्ण विद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उसके कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिए सत्य उपदेश करने वाला है, और जो पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्त्तना है इसी का नाम आप्ति है, इस आप्ति से जो युक्त हो उसको 'आप्त' कहते हैं । उसी के उपदेश का प्रमाण होता है, इससे विपरीत मनुष्य का नहीं, क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है, अनृत का नहीं । सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है वह सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है, इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं, क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता । इसी प्रकार व्यास जी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है, इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिए । जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं इनमें कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं, क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं । और जो सत्यग्रन्थ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उन के इतिहासों का भी त्याग नहीं करना चाहिए ।

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात् ?

मैवं वादि । ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात् । 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०' इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य विद्यमानत्वात् । एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात् तद्यथा–

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥१॥ अ० १॥

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ॥ अ० २ ।

इति मनुसाक्ष्यत्वात् । अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा !

भाषार्थ–प्र०–जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं, उन्होंने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ?

उ०–ऐसा मत कहो, क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है । सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि–'जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं ।' इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है । क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्तमान था । इस में मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि–'पूर्वोक्त अग्नि, वायु, रवि और अङ्गिरा से जब ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है ।

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति ?

अर्थवशात् (विद) ज्ञाने, (विद) सत्तायाम्, (विद्लृ) लाभे, (विद) विचारणे, एतेभ्यो 'हलश्च' इति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । तथा (श्रु) श्रवणे, इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन्प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते । विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते, लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते 'वेदाः' । तथाऽऽदिसृष्टि-मारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा 'श्रुतिः' । न कस्यचिद्देह-धारिणः सकाशात्कदाचित्कोऽपि वेदानां रचनं दृष्टवान् । कुतः ? निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात् । अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम् । तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः । वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात् । अतः किं सिद्धम् ! अग्निवायुरव्याङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम् ।

भाषार्थ–प्र०–वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ?

उ०–अर्थभेद से । क्योंकि एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा (विद) सत्तार्थ है, तीसरे (विद्लृ) का लाभ अर्थ है, चौथे (विद) का अर्थ विचार है । इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है । । तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है, इससे करणकारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है । जिनके पढ़ने से

यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिन से सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक्संहितादि का 'वेद' नाम है । वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं इससे वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ा है । क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा, इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं, और उनको सुनते सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं । तथा अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली की चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था, क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई । किन्तु इससे यह जानना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं ।

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ?

अत्रोच्यते–एको वृन्दः षण्णवतिः कोट्योऽष्टौ लक्षाणि द्विपञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्चैतावन्ति १९६०८५२९७६ वर्षाणि व्यतीतानि । सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तत इति वेदितव्यम् । एतावन्त्येव वर्षाणि वर्तमानकल्पसृष्टेश्चेति ।

कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति ?

अत्राह–अस्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वाद-स्मात्पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति । तद्यथा–स्वायम्भवः, स्वारोचिष, औत्तमिस्तामसो, रैवतश्चाक्षुषो, वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त चैते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति । तत्रैकसप्ततिश्चातुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति । ते चैकस्मिन्ब्राह्मदिने १४ चतुर्दशभुक्तभोगा भवन्ति । एकसहस्रं १००० चातुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति । ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम् । सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति । अस्मिन्ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः, सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्त्तते । तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारिसहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते । यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति । अत्र विषये प्रमाणम्–

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः । एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥१॥
चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् । तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः॥२
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु । एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥३॥
यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् । एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥४॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥५॥
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥६॥
यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७॥
मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च । क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥८॥

मनु० अध्याये १

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्था संज्ञाः क्रियन्ते । यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत् । मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिक-गुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते । अत्रैवं संख्यातव्यम्–

एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा । लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥१॥

वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः । अन्त्यं मध्यं परार्द्ध्यं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥२॥

इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति । 'सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि' ॥ य० अ० १५ । मं० ६५॥ **'सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि'** ॥ श० कां० ७। अ० ५ । **क० ब्रा० सर्वस्य जगतः सर्वमिति नामास्ति । कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोऽस्ति । मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्सर्वमभिवदतीति । एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम्। ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमद्यपर्यन्तमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्य्यते ज्ञायते चातः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्तुं योग्यास्ति नान्येति निश्चयः । कुतो ह्यार्यैर्नित्यम्–'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमास-पक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते च' इत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वादितिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात् सर्वत्रैकरसत्वादशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम् । अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम् ।**

भाषार्थ–प्र०–वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उ०–एक वृन्द छानवे करोड़ आठ लाख बावन हजार नव सौ छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् ७७ सतहत्तरवां वर्त्त रहा है ।

प्र०–यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं ।

उ०–यह जो वर्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं । स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं और ७ सातवां वैवस्वत वर्त्त रहा है, और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ चौदह मन्वन्तर होते हैं । और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है । सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हजार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है । (१२९६०००) बारह लाख छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता, (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हजार वर्षो का नाम कलियुग रखा है । तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है । और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है । एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुए, और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है । इस चतुर्युगी में कलियुग के

(४९७६) चार हजार, नव सौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है । जानना चाहिए कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पांच लाख बत्तीस हजार, नव सौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख सतासी हजार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं । इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है, जिसको आर्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवां संवत् कहते हैं ।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं, उन एक हजार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रखी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रिसंज्ञा जाननी चाहिए । सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर सब को बना रखता है, इसी का नाम 'ब्राह्मदिन' रखा है, और हजार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है । उसका नाम 'ब्राह्मरात्रि' रखा है । अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है । यह जो वर्तमान ब्राह्मदिन है इसके (१९६०८५२९७६) एक अर्ब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में व्यतीत हुए हैं और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब तैंतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताइस हजार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं । इन में से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है । आगे आने वाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक एक वर्ष मिलाते जाना चाहिए, जैसे आज पर्यन्त घटाते बढ़ाते आए हैं ।

ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्त्तमान और प्रलय की संज्ञा की है इसीलिए इसका नाम ब्राह्मदिन है । इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिए लिख चुके हैं सो देख लेना । इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है, अर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की 'दैवयुग' संज्ञा की है । इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक वार सृष्टि हो चुकी है और अनेक बार होगी । सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा । क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, वर्तमान, प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें, इसीलिए यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी है । और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रति मन्वन्तर में बदलता जाता है इसीलिये मन्वन्तर संज्ञा बांधी है । वर्त्तमान सृष्टि की कल्पसंज्ञा और प्रलय की विकल्पसंज्ञा की है ।

और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करनी चाहिए कि (एकं दशशतं चैव०) एक (१), (दश) (१०), शत (१००), हजार (१०००), दश हजार (१००००), लाख (१०००००), नियुत (१००००००), करोड़ (१०००००००) अर्बुद (१००००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शङ्ख (१००००००००००००), पद्म (१०००००००००००००), सागर (१००००००००००००००), अन्त्य (१०००००००००००००००), मध्य (१००००००००००००००००), और पराद्धर्य (१०००००००००००००००००), और दश दश गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रन्थों में गिनती की है ।[१]

(सहस्रस्य प्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्र संज्ञा की जाती है, क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है । सो हे परमेश्वर ! आप इस हजार

१. कहीं कहीं इसी संख्या को १९ उन्नीस अङ्क पर्यन्त गिनते हैं सो यहां भी जान लेना ।

चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो । इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन-दिन गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणित विद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं, अर्थात् परम्परा से सुनते-सुनाते लिखते-लिखाते और पढ़ते-पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं । यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है, और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है । क्योंकि आर्य लोग नित्यप्रति 'ओं तत् सत्' परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं, और बहीखाते की नाईं लिखते-लिखाते, पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वत मनु के भोग होने को बाकी हैं उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे हैं, इसी लिये यह लेख है-(श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०)

यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इसके भोग में यह (२८) अट्ठाईसवां कलियुग है । कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष, ऋतु, अयन, मास, पक्ष, दिन, नक्षत्र, मुहूर्त, लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं, अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १९३३ फाल्गुण मास, कृष्णपक्ष, षष्ठी, शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हमने लिखी है, इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्ध पर्यन्त करते और जानते चले आये हैं । जैसे बहीखाते में मिती डालते हैं वैसे ही महीना और वर्ष बढ़ाते घटाते चले जाते हैं । इसी प्रकार आर्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष, मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं । और यही इतिहास आज पर्यन्त सब आर्यावर्त्त देश में एक सा वर्त्तमान हो रहा है और सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है । इसीलिए इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता । क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर मिती वार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक-ठीक आर्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है और इससे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग ही बड़े बड़े विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं ।

जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब आर्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया और जो पुस्तक ज्योतिषशास्त्र के बच गए हैं उनमें और उनके अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं इनमें भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता । यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो, सो यह बड़ा उत्तम काम है । इसको सब लोग यथावत् जान लेवें । परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिए बिगाड़ रखा है, यह शोक की बात है । और टके के लोभ ने भी जो इसके पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा, नष्ट न होने दिया । यह बड़े हर्ष की बात है । जो चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट बढ़ संख्या क्यों हुई है, इसकी व्याख्या आगे करेंगे, वहां देख लेना चाहिए, यहां इसका प्रसंग नहीं है इसलिए नहीं लिखा ।

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोऽस्ति

श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम् । तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च ॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः

भाषार्थ—इससे जो अध्यापक विलसन साहेब और अध्यापक मोक्षमूलर साहेब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि—वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है । और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२९००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हजार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों की उत्पन्न हुए बीते हैं, उनकी यह भी बात झूठी है । क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और सङ्कल्प पठनविद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता । इससे यह जानना अवश्य चाहिए कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है, और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि जिन जिन ने अपनी अपनी देश भाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है, उन उन का भी व्याख्यान मिथ्या है । क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जब पर्यन्त हजार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे ॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः ॥